

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

संस्कृत-गद्य-वीथी

स्नातकपरीक्षार्थिनां कृते प्रतिनिधिर्गद्यसंग्रहः
भूमिकाव्याख्यादिभिः संवलितः

प्रणेता

(स्वर्गीय) पण्डित चन्द्रशेखर पाण्डेय

एम० ए०, शास्त्री

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, स्नातन धर्म कलेज, कानपुर

तथा

डा० शान्तिकुमार नानूराम व्यास

एम० ए०, पी-एच० डी०

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', नई दिल्ली

ओरिएण्टल बुक-डिपो

१७०४, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक-डिपो,
१७०४, नई सड़क
दिल्ली

प्रथम संस्करण १९४८
द्वितीय संस्करण १९६०
तृतीय संस्करण १९६३
मूल्य
२ रुपये ७५ नये पैसे

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
सीताराम बाजार,
दिल्ली-६

निवेदन

संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा के इस युग में समय की यह माँग है कि अधिकाधिक छात्रों को उसके अव्ययन की ओर आकृष्ट करने के लिए उसका एक सरल, रोचक और वैविध्यपूर्ण रूप उपस्थित किया जाए। प्रस्तुत संग्रह में यही दृष्टि रखकर वैदिक युग से आधुनिक युग तक के कतिपय प्रतिनिधि-गद्यकारों की चुनी हुई श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन किया गया है। हमारे विश्वविद्यालयों की वी०ए० कक्षा का संस्कृत-छात्र जहाँ 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' की-सी बालोपयोगी संस्कृत के स्तर से ऊपर उठा हुआ होता है वहाँ वह दीर्घकाय या आयासजनक गद्य-ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए भी पर्याप्त साहस और अबकाश नहीं बटोर पाता। वह तो संस्कृत-गद्य-सोपान के मध्य तक पहुँचा हुआ एक तरुण पथिक है, जिसे अनतिसरल और अनति-क्लिष्ट रचनाओं का पाथेय प्रदान करके ही रसास्वादन कराया जा सकता है। प्रस्तुत गद्य-वीथी में उसे वैदिक, औपनिषदिक, शास्त्रीय, दार्शनिक, काव्यात्मक सभी प्रकार के गद्यों में चञ्चु-प्रवेश का अवसर मिलेगा और इन गद्यांशों के मूल रस-स्रोतों में अवगाहन करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। उद्बोधक स्तुति, सरस संवाद, सोद्देय्य आख्यान, उदात्त उपदेश, रसप्रवण कथा, भाषा-विषयक ऊहापोह, कारुणिक प्रसंग, प्राकृतिक वर्णन, दार्शनिक विवेचन, मार्मिक व्यंग्य आदि नानाविध स्थूल पाठक के मस्तिष्क, हृदय और आत्मा को पर्याप्त आन्दोलित करेंगे। प्रत्येक गद्यांश के चुनाव में इस बात का ध्यान रखा गया है कि वह किसी-न-किसी रूप में संस्कृत के सांस्कृतिक गौरव को, उसके शिल्प-सादर्य को, उसकी शब्द-सम्पत्ति को, उसकी ऊर्जस्विता को, उसकी भाव-गरिमा को प्रकट करे और अध्येता पर एक सात्त्विक प्रभाव छोड़ जाए।

'संस्कृत-गद्य-मञ्जरी' के नाम से हमारा एक संग्रह सन् १९४५ में

प्रकाशित हुआ था जो इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसके पाँच संस्करण प्रकाशित हुए और जो अद्यावधि आगरा, राजपूताना, विन्म-प्रभृति विद्वत्-विद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत रहा। किन्तु बहूत पुराना हो जाने के कारण उसकी नवीनता और रोचकता प्रायः समाप्त हो चली थी तथा, साथ ही, उसका मुद्रण भी दोषपूर्ण था। इस कारण अध्यापन-काय में सलग्न कोई आदरणीय मित्र। एवं हितैषियों ने हमें एक ऐसा नवीन परिर्वाहित एवं सुमुद्रित संस्करण तैयार करने का सुझाव दिया, जिसमें अधिक प्रतिनिधि-रचनाओं का समावेश हो। प्रस्तुत संग्रह इसी दिशा में किया गया एवं विमल प्रकाशित है। पहले के संग्रह की तुलना में इसका यथानुमति अधिक रोचक और विविधतापूर्ण बनाने की बख्श की गई है। मुद्रण में भी सुधार किया गया है। संस्कृत-गद्य के विकास का नया सिर स विवेचन किया गया है और उसकी धारा का आधुनिक बाल तृप्त लाया गया है। छात्रों के स्वाध्याय के लिए व्याख्या को पर्याप्त विस्तृत और विशद करने का प्रयत्न किया गया है। समस्त गद्याचार्यों से संबंधित प्रशस्तियाँ तथा उनके गद्यांशों की चुनी हुई सूक्तियाँ जन्म में एकत्र की गई हैं। जाना है, इस रूप में यह गद्य-बीभी हमारे पूर्व संग्रह की अपेक्षा अधिक उत्साह मिद्ध होगी। फिर भी कोई प्रयास संवधा श्रुति-रहित नहीं होता, जब हम कृतज्ञ होंगे पठन-पाठन में हमें उन छात्रों और प्राध्यापकों के, जो इस पुस्तक को व्यवहार में लाकर इसकी सुकीर्ति-शुद्धियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, जिसमें जागामी संस्करण में उनका परिहार किया जा सके।

इस संस्करण के प्रकाशन में हमें अनेक अनुभवी विद्वानों के परामर्श का लाभ मिला है। डॉ० धर्मोदनाथ शास्त्री, एम० ए०, डी० लिट्०, अव्यय, संस्कृत-विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ, ने पाण्डुलिपि के शुद्ध अक्षर पढ़कर कतिपय परिवर्तन सुचाए। पण्डित सायनारायण पाण्डेय, एम० ए०, वर्तमान अव्यय, संस्कृत-विभाग, मनातनधम कॉलेज, बानपुर, ने भी अपने परामर्श से हमें लाभान्वित किया। गद्यांशों के चुनाव, सम्पादन, स्पष्टीकरण आदि में हमें अपने श्युत्पन्न मित्र प्रो० राजपतराय, एम० ए०, दिल्ली, ने प्रभु सहायता

मिली है। प्रो० रामेश्वर गौरीशकर ओझा, एम० ए०, अजमेर; प्रो० विश्वनाथ गौड़ एम० ए०, शास्त्री, कानपुर, प्रो० शिवराज शास्त्री, एम० ए०, मेरठ, श्री द्वारिकाप्रसाद नैथानी, शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, दिल्ली आदि ने भी विभिन्न रूपों में हमें सहयोग दिया है। इन सबके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। साथ ही, उन टीकाकारों, लेखकों एवं अन्यान्य संग्रहकर्तियों के भी हम ऋणी हैं, जिनकी कृतियों से हमें सहायता मिली है अथवा बहुमूल्य संकेत प्राप्त हुए हैं।

नई दिल्ली,
गणतन्त्र-दिवस, १९५८

प्रणेता

अनुक्रमः

भूमिका—संस्कृत-गद्य का विकास	७
१ भद्रं नो वितरन्तु देवा (अथर्ववेद)	३३
२ सत्यमेव जयते (ऐतरेयब्राह्मणम्)	३४
३ आचार्योऽन्तेवामिनमनुशास्ति (तैत्तिरीयोपनिषत्)	३५
४ ब्रह्म एव महीयते (केनोपनिषत्)	३६
५ अधिकारिखर्गेषु राज्ञो जागरुजता (बौटिल्य)	३७
६ अनन्तपारं निन शब्दसात्म्यम् (पतञ्जलि)	३६
७ सत्मेवित पन्था (चरक)	४२
८ न यत्रान्नि प्रभवति (आर्यभट्ट)	४५
९ दारगुणा (दण्डी)	४८
१० प्रणम्या दूरत गला (मुबन्धु)	५१
११ दहनि निदाषो निनराम् (वाणभट्ट)	५३
१२ किं भवणम् ? चारिष्यम्, को निक्वपो ? विपदेका (वाणभट्ट)	५५
१३ अहो प्रभावस्तपसाम् (वाणभट्ट)	५६
१४ अतिमहनं तमो योवनप्रभवम् (वाणभट्ट)	६३
१५ प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रक्षणो यं धर्मं (शाङ्कराचार्य)	६६
१६ पितृवत् परलन्यासु (अम्बिकादत्तव्यास)	६७
१७ वृक्षाणां परिपत् (हृषीकेशदान्धी मट्टाचार्य)	७१
१८ ननेशं मनेन हि पुनर्नवना विधत्ते (क्षमा राव)	७५
व्याख्या	८३
गद्यकारा प्रदास्यन्त आचार्यैरधिकारिभि	१६३
कण्ठस्थेषां सदुक्तय	१६६

संस्कृत-गद्य का विकास

भारतीयों की प्राचीन भाषा के दो सुस्पष्ट वर्ग पहचाने जा सकते हैं—एक वैदिक, दूसरा संस्कृत। वैदिक भाषा वैदिक साहित्य में—संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों में—प्रयुक्त हुई है तथा संस्कृत समस्त परवर्ती साहित्य में। वैदिक साहित्य में भाषा उत्तरोत्तर विकसित होती दिखाई देती है, पर पाँचवी शताब्दी ईस्वी-पूर्व में पाणिनि ने सदा के लिए उसे 'संस्कृत' बना दिया, अर्थात् व्याकरण के नियमों से उसका 'संस्कार'—परिष्कार एवं संशोधन—कर दिया, और तब से संस्कृत, इन ढाई हजार वर्षों में, पाणिनि के नियमों द्वारा ही बराबर नियन्त्रित रही है, उनके प्रतिकूल धोलना-लिखना अशुद्ध माना जाता है। इसके अतिरिक्त, वैदिक साहित्य जहाँ प्रारम्भ में पद्यात्मक और बाद में गद्यात्मक हो जाता है, वहाँ संस्कृत-साहित्य अधिकांश पद्यात्मक है। यहाँ तक कि ज्योतिष, गणित, व्यवहार (कानून), आयुर्वेद—जैसे शास्त्रीय विषयों में भी संस्कृत साहित्यकारों ने पद्य का ही आश्रय लिया, चाहे इससे स्पष्टता का भली-भाँति निर्वाह न हुआ हो। गद्य का प्रयोग व्याकरण-ग्रन्थों, कथाओं, आख्यायिकाओं तथा आंगिक रूप में नाटकों में हुआ है।

संस्कृत-साहित्य के विपुल विस्तार को देखते हुए उसमें गद्य का भाग बहुत कम है। लेखकों और जनता दोनों का रुझान पद्य की ओर ही अधिक रहा है। कण्ठस्थ करने में सुगम होने के कारण पद्य के प्रति यह पक्षपात स्वाभाविक था, विशेषकर उस युग में जबकि अध्ययन-अध्यापन मुख्यतः मौखिक था। 'रामायण', 'महाभारत' तथा विशाल पुराण-साहित्य प्रायः सर्वांग में पद्य ही में रचे गए। पर शीघ्र ही गद्य ने, अपने व्याव-

हारिद महत्त्व के कारण साहित्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया और उसे कविता की मन्ची कसौटी माना जाने लगा—गद्य कवीना निरूप्य वदन्ति ।'

वैदिक गद्य

वैदिक गद्य का 'ऋग्वेद' जितना प्राचीन नमूना हम आज नहीं मिला। पर जमन विद्वान् ओल्डेनबर्ग का अनुमान है कि 'ऋग्वेद' के सवादारमक सूक्तों में, बीच-बीच में, गद्य की कड़ियाँ रही होंगी, जो समय के प्रवाह में गुप्त हो गईं। प्राचीन गद्य 'यजुर्वेद' में दृष्टिगोचर होगा है। 'यजुर्वेद' के 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दोनों सम्प्रयोगों में गद्य प्रशुभन हुआ है, किन्तु 'शुक्ल' की अपेक्षा 'कृष्ण' में गद्य की गरिमा अधिक लक्षित होती है। 'कृष्ण-यजुर्वेद' का गद्यांश ब्राह्मणों की मंडी में 'शुक्ल-यजुर्वेद' का व्याख्यात्मक रूप है। 'यजुर्वेद' की गद्य-स्तुतियों को 'यजूषि' की मंडा दी जाती है। इन स्तुतियों का गद्य कहीं-कहीं अनुप्राणमम और कवित्वपूर्ण भी है। 'अथर्ववेद' के १५वें और १६वें काण्डों में भी गद्यांश पाए जाते हैं। वैदिक साहित्य का यह गद्य मुख्यतः यज्ञ-सम्बन्धी, आर्ष^१ तथा म्बरयुक्त^२ है।

- १ अर्थात् 'गद्य को कविता की कसौटी कहते हैं।' यह सुप्रसिद्ध वाक्य-
'शाक्यालंकारसूत्र' १।३।२१ पर वामन द्वारा अपनी काव्यालंकार-
सूत्रवृत्ति में उद्धृत है।
- २ 'यजुर्वेद' की एक सुप्रसिद्ध गद्य-स्तुति देखिए—'पश्येम शरद शतम्,
जीवेम शरद शतम्, शृणुयाम शरद शतम्, प्रश्रवाम शरद शतम्,
अदीना स्वाम शरद शतम्' (शु० यजु० ३६।२४)।
- ३ प्राचीन साहित्य के जो व्याकरण प्रयोग पाणिनि के नियमों से
मेल नहीं खाने, उन्हें आर्ष कहा जाता है।
- ४ वैदिक भाषा में—गद्य में भी—स्वरों का प्रयोग किया जाता है,
लौकिक में नहीं।

ब्राह्मण

ब्राह्मण-ग्रन्थों में आकर गद्य आर्यों के याज्ञिक क्रिया-कलापो का समर्थ माध्यम बन गया—उसका प्रभाव और प्रयोग बढ़ता गया। वैदिक साहित्य में ब्रह्म^१ शब्द यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण ये ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। सभी ब्राह्मण पूर्णतः गद्य में रचित हैं। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विवेचना करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। यज्ञों के अनुष्ठान की विधियों के साथ-साथ इनमें वैदिक मन्त्रों की पौराणिक एवं धार्मिक व्याख्याएँ भी दी गई हैं। इनमें गद्य का प्रयोग भाषा-विषयक ऊहापोह करने तथा परम्परागत आख्यानो का वर्णन करने में किया गया है। स्वभावतः यह गद्य कर्मकाण्ड की छाया से आक्रान्त है। वाक्य-विन्यास और शब्दावली भी बहुत-कुछ आर्प है। ब्राह्मणों के गद्य शैली भी स्वर-सहित पढ़ने का विधान है। उनकी शैली सरल और शक्तिशाली है, पर शब्द-बहुल और अपरिष्कृत भी। प्रमुख ब्राह्मणों में उल्लेखनीय 'ऐतरेय-ब्राह्मण', 'कौपीतकी ब्राह्मण', 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'ताण्ड्य ब्राह्मण', 'गोपथ ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण'^२ आदि हैं।

ब्राह्मणों के पिछले भाग में आरण्यक आते हैं, जिनमें कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी गई है तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। ये भी गद्य में विरचित हैं। इनकी भाषा लौकिक संस्कृत के निकट है।

उपनिषद्

उपनिषद् भी वेदों के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उनके सबसे प्राचीन वर्ग में 'बृहदारण्यक', 'छान्दोग्य', 'तैत्तिरीय', 'ऐतरेय' और 'कौपी-

१. ब्रह्म वै यज्ञः । ऐतरेय ब्राह्मण ७।२२

२. 'शतपथ ब्राह्मण' का एक सुविख्यात गद्य-मन्त्र देखिए—'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' (१४।३।१।३०)।

तकी' गिने जाने हैं। इन्हे कुछ-पूर्व अर्थात् ६०० ई० पू० से पहले का माना जाता है। ये सब गद्य में हैं और इनकी शैली ब्राह्मणों की भाँति अपरिष्कृत है। दूसरे वर्ग में 'ईश', 'वेन', 'कठ', 'श्वेताश्वतथ', 'मुण्डक' और 'महानारायण' आते हैं, जो कि सब गद्यमय हैं। 'वेन', जिसका कुछ अंश गद्यमय है और कुछ पद्यमय, इन दोनों वर्गों के बीच का है। तीसरे वर्ग के 'प्रद्व', 'मंत्रायणीय' और 'माण्डूक्य' उपनिषदों की भाँति फिर गद्यमय हो गई है, पर पहले वर्ग के उपनिषदों-जैसी अपरिष्कृत नहीं है और प्राचीन लौकिक संस्कृत से अधिक मिलती-जुलती है। चौथे वर्ग में परवर्तमान अथर्ववेदीय उपनिषदों की गणना है, जिनमें से कुछ गद्य में हैं और कुछ पद्य में।

उपनिषदों का गद्य स्वल्प, प्रसन्न (प्रसाद-गुण-युक्त), निराडम्बर और चुहल में भरा होने के कारण अपौरुष आकर्षण है। जहाँ वैदिक गद्य, यज्ञ-याग की वाष्पमयी प्रक्रिया के विस्तार के कारण नीरम है, वहीं उपनिषदिक गद्य स्वच्छन्द और स्वाभाविक है—उसमें आख्यायिकाएँ (नियम-पदों) की प्रचुरता है, पदा की रचिनी पुनरति है और लम्बे-लम्बे समासों का प्रायः अभाव है।

सूत्र

वैदिक काल में ही गद्यकारों ने एक अनूठी सूत्र-शैली का आविष्कार किया, जो एक साथ लघुतम मसौप एवं विपुल विस्तार का आश्चर्यजनक उदाहरण है। श्रौत तथा गृह्य सूत्रों में इस गद्य-शैली का प्रयोग आरम्भ हो गया और शीघ्र ही यह लोकप्रिय बन गई। श्रौत शैली में वेदाङ्गों की

१ अलङ्कार शास्त्र के अनुसार 'प्रसाद' की परिभाषा यह है—

चित्त व्याप्नोति यः क्षिप्रं गुणैः यत्नमिवावत ।

स प्रसादः समस्तेषु रमेषु रत्नानामु च ॥

शब्दास्तद्व्यञ्जना अपेक्षोपेक्षा श्रुतिमात्रतः । (साहित्य-दर्पण)

रचना की गई। सक्षेपीकरण के लिए सूत्रों में एक नया आश्रय ढूँढ़ लिया गया—दीर्घकाय समास, जो बाद में लौकिक संस्कृत गद्य का एक सामान्य लक्षण बन गया। यास्क (७०० ई० पू०) का 'निखत्' सूत्र-शैली में रचित है। पाणिनि (५०० ई० पू०) ने भी अपना 'अष्टाध्यायी' को सूत्रों में गूँथा है।^१ सूत्रों की प्रक्रिया का उत्कृष्ट रूप यही है और इसी को हमारे चहों दर्शनकारों ने तथा पाणिनि के बहुत बाद आने वाले वैयाकरणों ने अपनाया है। सूत्रों की सक्षिप्तता के कारण उन्हें टीका की सहायता के बिना समझना असम्भव-प्राय है। उदाहरणार्थ पाणिनि के एक सूत्र को देखिए, जिसमें केवल पाँच अक्षर हैं—इकोऽयणञ्चि—पर जिसके अर्थ में यह विपुल भाव भरा है कि 'यदि किसी शब्द के अन्त में इक् प्रत्याहार (इ, उ, ऋ, और लृ) हों और उसके बाद में आनेवाले शब्द के आरम्भ में कोई भी स्वर हो तो इक् के स्थान पर यण् (य, व, र, और ल) क्रमशः हो जायेंगे'।

संस्कृत गद्य—तीन प्रकार

लौकिक संस्कृत-काल में गद्य प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—पौराणिक, शास्त्रीय और साहित्यिक। पौराणिक गद्य में वैदिक काल के बचे-खुचे आर्प-प्रयोग रह गए हैं। इस प्रकार का गद्य कहीं-कहीं 'महाभारत',

- १ पाणिनि के सूत्रों को श्रौत तथा गृह्यसूत्रों से मिलाने पर एक मौलिक भेद प्रत्यक्ष दोख पड़ेगा, वह यह कि जहाँ पाणिनि ने अनुवृत्ति, अधिकार आदि उपकरणों का सहारा लेकर संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश एवं अधिकार-रूप पङ्क्ति सूत्रों की रचना करके बाकी सब कुछ गण आदि को सोंप दिया है, वहाँ श्रौत और गृह्यसूत्रकारों को अनुवृत्ति, अधिकार आदि की प्रक्रियाएँ अज्ञात हैं। यह एक बड़ा भेद है, जो इस कोटि के सूत्रों के गद्य को पाणिनि-कोटि के सूत्रों के गद्य से पृथक् करता है। (डा० सूर्यकान्त—'पाणिनि और पतञ्जलि का गद्य-साहित्य', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', १२ जून, १९५५)।

'श्रीमद्भागवत' तथा 'विष्णुपुराण'^१ में मिलता है। यह गद्य वैदिक गद्य और मस्कृत गद्य को मिलाने का काम करता है। शास्त्रीय गद्य में साहित्यिक-सौन्दर्य कम रहता है, जबकि साहित्यिक गद्य में बाव्य का-भा जानन्द आता है।

शास्त्रीय गद्य

शास्त्रीय गद्य-शैली का प्राचीनतम उदाहरण तीसरी शताब्दी ई० पू० में रचित पतञ्जलि का 'महाभाष्य' है, जिसमें पाणिनि के सूत्रों पर तथा कात्यायन (४०० ई० पू०) के वार्त्तिना पर विस्तृत व्याख्यात्मक विवेचन है। 'पतञ्जलि के अनुसार व्याकरण भाषा को घडता नहीं, अपितु शिष्टा में प्रचलित भाषा का विवरण करता है। शिष्टों के द्रवी परिष्कृत गद्य में पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' की रचना की है। फलतः उनका गद्य अत्यंत प्राञ्जल, प्रसर्पित एवं जम्बिज्यञ्जनाशील सम्पन्न हुआ है। उनके वाक्य छोटे-छोटे, मोती-बँसे विभक्त एवं सारगर्भ हैं। उसने क्रिया-पदों की उठ-बैठ देखने ही बननी है और उसके नामिक देश की प्रचलित भाषा से चुने गये हैं। अपने गद्य में पतञ्जलि ने न तो जवाहनीय संक्षेप का पल्ला पकड़ा है और न कर्ण-मधुर मंगामो को ही अपनाने का प्रयत्न किया है। उसमें उद्देश्य कृत्रिमता का परिहार करके सरलता और मनोज्ञता का अभूत-पूर्व समन्वय किया है।^२ इसमें व्याकरण-जैसा दुःसह शास्त्र भी रोचक और हृदयग्राही बन गया है।

शास्त्रीय गद्य का उदाहरण दर्शन-ग्रन्थों में भी मिलता है। पद्मसूत्रों

-
- १ विष्णुपुराण के गद्य का एक नमूना देखिए—'यथैव प्योन्नि वह्नि-पिष्टोपम त्वामहमपदय तथैवाद्याप्रतो मनमप्यय भगवता विष्टिचल्ल प्रसादीकृत विशेषमुपलक्षयासीत्युवते भगवता सूर्येण निजकृतादुमच्य इयमत्तक नाम महामणिवरसंबतायं एवान्ते न्यस्तम्' (४।१३।१४)।
- २ डा० सूर्यकांत—यही।

पर रचित भाष्यों में जिस दार्शनिक गद्य के दर्शन होते हैं, वह निर्मल एवं गहन-गम्भीर है। मीमांसासूत्रों पर शबरस्वामी का भाष्य,^१ न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य तथा वेदान्तसूत्रों पर शङ्कराचार्य का भाष्य दार्शनिक गद्य के विशिष्ट उदाहरण हैं। शङ्कराचार्य के भाष्यों में प्रयुक्त प्रसन्न-गम्भीर गद्य इस नाते आदर्श है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ और प्राञ्जल हैं तथा शैली विवेचनात्मक एवं तर्कप्रवण है। बाद के दर्शन-ग्रन्थों में, उदाहरणस्वरूप नव्य-न्याय की कृतियों में, इस तर्क-प्रधान शैली की इतनी अति कर दी गई कि लेखक का अभिप्राय ही तर्क-वितर्कों के जटिल जाल में उलझ कर रह गया।

किन्हीं-किन्हीं शान्त्रीय ग्रन्थों में गद्य-पद्यमयी शैली का भी आश्रय लिया गया।^२ उनमें मुख्य विषय का विवेचन तो गद्य में किया जाता है तथा दृष्टान्त या समर्थन के तौर पर अथवा सारांश-रूप में पद्यों का प्रयोग कर दिया जाता है। यह शैली चिकित्सा-शास्त्र और अलङ्कार-शास्त्र के कतिपय ग्रन्थों में तथा कांटिल्य के अर्थ-शास्त्र में प्रयुक्त हुई है। पर लेखकों को शीघ्र ही अनुभव हो गया कि तपे-तुपे पद्यों में तथ्य-विवेचन के लिए गद्य-शैली हानिकारक है। अतः व्यवहार (कानून) की व्याख्याओं में नया साहित्य-शास्त्र की रचना में लेखकों ने गद्य को ही अधिक अपनाया। इन वैज्ञानिक ग्रन्थों का गद्य मूत्र-शैली में प्रभावित है। उसमें पारिभाषिक

१. शबरस्वामी की शैली का एक उदाहरण—'इच्छयात्मानमुपलभामहे । कथञ्चित् ? उयलब्धपूर्वं ह्यभिप्रेते भवतीच्छा । यया मैरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जतीयेरनुपलब्धपूर्वाणि स्यादूनि वृक्ष-फलानि न तानि प्रत्य-त्माकमिच्छा भवति' (१।१।५) ।
२. जिन साहित्यिक ग्रन्थों में ऐसी मिश्र शैली प्रयुक्त हुई है, वे 'चम्पू' कहलाते हैं—'गद्यपद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते'—साहित्यदर्पण । 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' में भी यही शैली व्यवहृत है, पर ये ग्रंथ भिन्न शैली में आते हैं ।

शब्दा की प्रचुरता तथा दीर्घ समासों की बहुलता दीख पड़ती है ।

साहित्यिक गद्य

संस्कृत के साहित्यिक गद्य अथवा गद्य-काव्य के प्रारम्भिक ग्रन्थ आज लुप्त हो गए हैं । इस कौटिक के गद्य का सर्वप्रथम दर्शन हमें दण्डी, सुबन्धु और बाण की कृतियों में होता है, वह भी अपने परिपुष्ट रूप में । उनके पूवाचार्यों के वार में हम नहीं के बराबर जानकारी है, पर इतना तो निर्विवाद है कि इन गद्याचार्यों से बहुत पहल ही इस प्रकार की काव्य-प्रधान गद्य-शाला का शताब्दियों तक अभ्यास किया जाता रहा होगा । कात्यायन ने आख्यायिकाओं का बहुवचन में उल्लेख किया है ।^१ पतञ्जलि ने आख्यायिकाओं के उदाहरण में 'वासवदत्ता', 'सुमनात्तरा' और 'भैरव्या' का नाम-निर्देश किया है ।^२ भाज ने अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में 'मनावती' और 'सातवर्णाहरण' नामक रचनाओं का आरम्भ किया है, जो ईस्वी-सन् के प्रारम्भ में लिखी गई होंगी । दण्डी ने भी 'मनावती' का प्रशंसा की है ।^३ हाल (७८ ईस्वी) के राजर्षि श्रीपालित ने 'तरङ्गवती' कथा लिखी ।^४ रामल-सामिल ने 'शूद्रक-कथा' का रचना का ।^५ 'हर्षचरित' में बाण ने

१ 'सुबाह्यायकथ्या बहुसम्', घ्राण्यानाख्यायिकांतहासपुराणेभ्यश्च'—वातक ।

२ यह 'वासवदत्ता' सुबन्धु की 'वासवदत्ता' से भिन्न है ।

३ 'आधकृत्य कृते प्रथ इत्यत्र सुबाह्यायकथ्या बहुस सुवक्तव्य । वासवदत्ता सुमनोत्तरा न च भवति भैरव्या ।' महामाध्य ४।३।८७

४ 'धवलप्रभवा राग सा तनोति मनोवती ।' अश्विनिमुन्दरीकथा

५ 'हालेनोत्तमपूजया कविवृष श्रीपालितो साहित'—अभिनन्द-कृत रामचरित, 'पुण्या पुनार्ति गगेव गां तरङ्गवती कथा'—धनपाल-कृत निलकमञ्जरी ।

६ तो शूद्रक-रूपाकारो कथो रामिससोमिलो ।

काव्य ययोर्द्वयोरासीदर्थनारीश्वरोपमम् ॥ —जल्हन

भट्टार हरिचन्द्र के मनोहारी गद्य की प्रशंसा की है ।^१ यद्यपि इन कृतियों और लेखकों के बारे में हमारी विद्येप जानकारी नहीं है, तथापि इन नामोल्लेखों से इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि दण्डी, सुबन्धु और वाण से लगभग १,००० वर्ष पहले से गद्य-काव्यो का सृजन किया जाता रहा । हो सकता है, ये गद्य-काव्य, अन्य उत्कृष्टतर गद्य-काव्यो की रचना हो जाने के कारण, बाद में जनता द्वारा भुला दिए गए हों ।

प्रशस्तियाँ

सरलता के बाद अलङ्कार का युग आया करता है और पतञ्जलि के बाद भी ऐसा ही हुआ । अब संस्कृत गद्य-लेखको की रुचि अलङ्कार-प्रयोग द्वारा भाषा के आडम्बर की ओर अधिक जाने लगी । यों तो अलङ्कारों का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में भी जगह-जगह मिलता है, पर उनके विधान में खोज और प्रयास की गन्ध नहीं है; वे तो परिन्दों की नाईं मन्त्र-द्रष्टाओं की प्रतिभा के मच्च से अनायास ही उतरे हैं । पर पतञ्जलि के गद्य के बाद खिलाड़ियों की आँख अलङ्कारों की खोज में रहने लगी, जिसका फल हमें १५० ई० में लिखे गए महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनारवाने शिलालेख में मिलता है ।^२ इसके गद्य में दीर्घ समास, अनुप्रास तथा अन्य अलङ्कार प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं । इसमें ऐसे गद्य और पद्य का उल्लेख हुआ है, जो 'अलकृत, कवि-समयो का अनुसरण करने के कारण उदात्त तथा स्पष्ट, लघु, मधुर, आकर्षक और रमणीय

१. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः ।

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हर्षचरित

२. इसका एक नमूना देखिए—'प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णतारसत्त्वदिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरात्रिकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतु मुदर्शनतर कारितम् ।'

शब्दों से निर्मित' है (स्फुटस्युमधुरवित्रकान्तशब्दसनयोदारालकृतगद्यपद्य)।
 इस प्रकार की रचना का प्रौढ रूप ३५० ई० के लगभग हरिवंश द्वारा
 रचित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मिलता है, जो प्रयाग के एक स्तम्भ पर
 उल्लिखित है।^१ इसमें चन्द्रगुप्त प्रथम की राज्य-विश्रान्ति और समुद्रगुप्त
 के राज्यारोहण का सुन्दर एवं चमत्कृत वर्णन है। इसमें एक सुदीर्घ,
 समामग्रहण, श्रुतिहारी गद्य-वाक्य की भवोज्ज्वल छटा मिल जाती है। इस
 प्रशस्ति में श्लेष का भी एक प्रयोग मिलता है, जो आगे चलकर गद्य-
 वाक्यकारों का अत्यन्त प्रिय बन गया। हरिवंश का यह गद्य-गुच्छ स्पष्ट
 रूप से शब्दाडम्बर-बहुल रचना-शैली का राजदूत है, जिसका परिपान
 सुबोधु और बाण की कृतियों में उपलब्ध होता है।

'पनञ्जलि के गद्य में और दस प्रशस्तियों के गद्य में आकाश-पाताल
 का अन्तर है। वह सवते हैं कि इस अन्तर का कारण दोनों के विषय
 का मौलिक भेद है, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ
 पनञ्जलि के गद्य में आख्यात अभीष्ट सभ्यता में उपरगच्छ होने हैं, वहाँ
 प्रशस्तियों के गद्य में वे प्रायः चतुर्दशे हैं और उनका स्थान नामिक शैली
 ने अपना लिया है।^२ निम्नलिखित श्लोक ही मिलती है, जब उनका काम
 नन्दे-नन्दे सामान्य देने लगे हैं। देवता-द्वन्द्व और बहुव्रीहि का ऋग्वेद में
 भी मिलने और प्रचुर मात्रा में मिलने है, किन्तु देवता-द्वन्द्व के रूप में
 और दो शब्दों के बहुव्रीहि के रूप में। इनके विपरीत प्रशस्तियों के

१ इराक़ एक याक्याश वेलिए—'सर्वपृथिवीविजयजनिरोदयव्याप्त-
 नितिलावन्तिला कीर्तिमिरस्त्रिदशपतिभवनगमनामत्तललितसुख-
 विचरणामाचक्षाण इव भुवो वाहुरदमुच्छित्त स्तम्भ ।'

२ इसका अर्थ यह है कि प्राचीन संस्कृत में पातुलों के निरुद्ध-रूप
 बहुत पाए जाते थे, पर थमस उनका प्रयोग घटता गया और
 उनकी जगह दृढत-रूप प्रयुक्त होने लगे, जैसे 'अज्ञासीत्', 'जगाम'
 आदि के स्थान पर 'दृष्टवान्', 'गत' आदि निवेदित लगे।

गद्य में दस-दस शब्दों को एक ही द्वन्द्व में टाँग दिया जाता है और बहुव्रीहि समास में तो मनमाने शब्द-व्रीहि भर दिए जाते हैं।^१

कथा और आख्यायिका

दण्डी, सुवन्धु और घाण से बहुत पहले भी गद्य-काव्यों का अनुशीलन किया जाता था। इसका एक और प्रमाण यह है कि उनसे पूर्व ही कथा और आख्यायिका के नाम से गद्य-काव्य का भेद किया जाने लगा था, जिनके विशिष्ट लक्षण निर्धारित हो चुके थे और कथाकारों से इनका पालन करने की अपेक्षा की जाती थी। आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार होना चाहिए, पर कथा कल्पना-प्रसूत होता है,^२ जैसा कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के उदाहरण से ज्ञात होता है।

किन्तु गद्य-काव्यों के इन दोनों वर्गों के विषय में, दण्डी और घाण के समय में, कई मतभेद उठ खड़े हुए थे।^३ दण्डी के अनुसार^४ आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक अन्य कोई। किन्तु यह नियम सर्वत्र घटित नहीं हुआ है; फिर वक्ता-रूप में स्वयं नायक ही अथवा अन्य कोई व्यक्ति, इसमें विरोध अन्तर नहीं है, इसलिए यह भेद अवास्तविक है। कुछ विद्वानों का मत था कि आख्यायिका में वक्ता और अपरवक्ता छन्दों का प्रयोग किया जाता है और उसमें कथाका उच्छ्वासों में बँटा रहता है। यद्यपि दण्डी ने प्रसंगवश कथा में भी इन लक्षणों का होना लिखा है और इस भेद को बस्तीकार किया है; तथापि घाण के 'हर्षचरित' में यह लक्षण अवश्य घटित होता है।

१. डा० सूर्यकान्त—वही।

२. आख्यायिकोपलब्धार्थ प्रबन्धकल्पनाकथा। अमरकोश, १।५।५-६

३. देखिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० ५।

४. देखिए काव्यादर्श, १।२३-३०।

दण्डा के मत में ता कथा और आख्यायिका में केवल नाम ही का भेद है, दाना की जाति एक है।^१ पर दण्ड ने 'दृष्टचरित' को आख्यायिका और 'कादम्बरी' को कथा माना है। 'हृष्टचरित' के आरम्भ में उन्होंने कहा है कि मैं इस आख्यायिका-रूपी समुद्र में चपलतावश जिह्वा का चप्लु चला रहा हूँ (करोम्यान्प्रायिकाम्बोधी जिह्वाप्लवनचापलम्)। 'कादम्बरी' की भूमिका में दण्ड ने उसे 'धामरदत्ता और 'दृष्टचरिता' इन दोनों को मान कर देनेवाली (अनिद्वयी) कथा कहा है।

दण्डी

दण्डी (६०० ई०) दक्षिण भारत के निवासी थे। उन्होंने 'काव्या-दश' नामक अलङ्कार-ग्रन्थ के अतिरिक्त दो गद्य-काव्य लिखे—'अनन्तिसुन्दरीकथा' और 'दशकुमारचरित'। 'अनन्तिसुन्दरीकथा' अपूर्ण है और उसे दण्डी की ही कृति मानने में विद्वानों में ऐकमन्य भी नहीं। 'दशकुमारचरित' को भी दण्डी ने आदि-जन्म लिखे बिना ही अबूरा छोड़ दिया था। बाद के लेखकों ने उसमें पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका जोड़कर उसे समग्र रूप दिया।

'दशकुमारचरित', जिसमें दश राजकुमार के पथटन और दुस्साहस का हृदयग्राही वर्णन है, संस्कृत के गद्य-साहित्य में एक अनूठी रचना है। अनूठी इसलिए कि यह यथार्थवादी है, मृष्टि-विराही है। दण्डी ने अपनी कृति में उस परम्परा का उत्तरधन किया है, जिसने अनुसार गद्य-काव्य में भी (जो कि काव्य का ही एक अवान्तर रूप है) किसी उदात्त विषय का प्रतिपादन होना चाहिए और उसका नायक भी शालीन, धीर एवं लोकातीत गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। 'दशकुमारचरित' के नायक इष्ट-सिद्धि के लिए उचित-अनुचित साधनों में कोई अन्तर नहीं करते। वे एक

१ तत्काल्यायिकेत्येका जाति सनाढ्याङ्गिता ।

अश्वान्तर्भव्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥ काव्यादर्श, १।२८

ऐसे समाज में विचरण करते हैं, जहाँ मान, मद, मोह, मत्सर का बोल-वाला है तथा छल, कपट, हिंसा, परस्त्री-हरण और अवैध प्रेम का निःसंकोच आश्रय लिया जाता है। पाखण्डी साधु, चतुर जादूगर, कामान्ध पुरुष, हृदयहीन वेश्याएँ, धूर्त कुट्टनियाँ और कजूस सेठ अपने अद्भुत व्यापारों से समस्त कृति को अतिशय सजीव और मनोरञ्जक बना देते हैं।

अपने सजीव कथानक के अतुरूप ही दण्डी ने सजीव भाषा का व्यवहार किया है। उनका गद्य प्रासादिक, दिन-प्रतिदिन के व्यवहार के योग्य, चुस्त और प्रवाहपूर्ण है। वह न श्लेष के बोझ से दबा है, न समासों के प्रहार से प्रताड़ित है, न अलङ्कार-बाहुल्य से आक्रान्त है। सहज भावाभिव्यक्ति—अर्थ की स्पष्टता—उनके गद्य की आत्मा है। उनका पदलालित्य दर्शनीय है (दण्डिनः पदलालित्वम्); उनकी शब्द-योजना में रस छलका पड़ता है।^१ हास्य, धाकपटुता एवं सूझ की चटकीली उर्वरता स्थल-स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने अपने कथानकों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया है कि वे सर्वथा सुसंगठित होकर खिल उठे हैं। भाषा-वैभव का उदगमन उन्होंने न किया हो, ऐसी बात नहीं, पर साहित्यिक अलङ्कारण में कहीं-कहीं फँस जाने पर भी वह दूरुह और अरुचिकर नहीं है। सुललित एवं सुभग गद्य लिखने में दण्डी निष्णात है और उनकी रचना, कला से चमत्कृत सामाजिक चुनौतियों के कारण एक महान्, प्रौढ और रस-वेशल रचना सम्पन्न हुई है।

सुबन्धु

गद्य-काव्यों को अलङ्कारों से वीक्षित तथा अक्षराट्मवरो से चित्र-विचित्र बनाने की प्रवृत्ति, जिससे दण्डी अपने को बहुत-कुछ मुक्त रख

१. उदाहरणार्थ, 'अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति', 'असत्येनास्य नास्यं संसृज्यते', स पुण्यः कर्मनिः प्राप्य पुरुषायुषं पुनरपुण्येन प्रजानाम-गण्यतानरेषु ।'

सके, उनके बाद बढती गई। अलंकार-शास्त्रिया ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'गद्यवाक्य का उत्कृष्ट शब्द-विन्यास के सौष्ठव, वणन की प्रारंभिकता, अलंकारों की सुभंगता, दीर्घ समस्त पदों की प्रयोग-चातुरी, वाक्यों के सहित निस्तार एवं ध्वनि तथा ध्वन्य के साटाप स्वनन और अवपतन में निगूढ है।' इस काटि के गद्य-वाक्य की छटा, अपने उच्चतम उद्रेक में, मुद्गधु की 'वासवदत्ता' में मिलती है।

'वासवदत्ता' में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय-कथा वर्णित है। कथानक अत्यन्त लघु है, पर प्रवृत्ति-वर्णन, सौन्दर्य-चित्रण तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा उसका विपुल विस्तार किया गया है, जिससे कथा-प्रवाह में बाधा पहुँची है। 'वासवदत्ता' एक श्लेष-बहुल रचना है, उसके रचयिता का दावा है कि उनके वाक्य के प्रत्येक अक्षर में श्लेष है (प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविधातबंदगध्यनिधि प्रबन्धम्)। पौराणिक सकेता से युक्त श्लेषों का उन्होंने एक बीहड़ जमल खड़ा कर दिया है, जिसमें रास्ता ढूँढ पाना पाठक के लिए एक श्रमसाध्य मानसिक व्यायाम हो जाता है।^१ सम्भवतः, सुवधु-जैसे लेखकों के लिए ही श्री आनन्दकवचन ने यह कहा है कि षड्विंशति बहूधा कथावस्तु के प्रवाह और रस की अभिव्यक्ति का ध्यान नहीं रखते और अलंकार-कौशल दिखाने में ही निमग्न रहते हैं। जहाँ दण्डी ने सरल, प्रासादिक एवं मनोगम्य बंदर्भी शैली को अपनाया है, वहाँ सुवधु ने अनिरायोक्ति, अनुप्रास और ममास-प्रधान शौड़ी शैली को, जिसमें दीर्घ वाक्य-विन्यास, शब्दाडम्बर तथा

१ जैसे, 'नन्दगोप इव यशोदान्वित, जरासन्ध इव घटितसर्पिष्विग्रह', अर्थात् यशोदा से युक्त नन्दगोप के समान वह यश और दया से युक्त थे, जरा के द्वारा मगटित शत्रुवाले राजा जरासन्ध के समान वह सर्पिष और विग्रह के सम्पादक थे।

२ वृश्चन्ते च कवयोऽलङ्कारनिग्रन्थनैकरसा अनपेक्षितरसा प्रवक्ष्ये ।
—ध्वन्यालोक ।

कृत्रिमता अधिक होती है।^१ फिर भी सुबन्धु ने संवादों में तथा अन्य उपयुक्त स्थलों पर छोटे वाक्यों का भी प्रयोग किया है।^२ सुबन्धु की कृति अपने ढंग की चमत्कारपूर्ण, मँजी हुई रचना है। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है।

वाणभट्ट की गद्य-शैली

संस्कृत गद्य-काव्य का चरमोत्कर्ष वाणभट्ट की कृतियों में देखा जा सकता है। वाण गद्य की पाञ्चाली शैली के अनुयायी है, जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों को गुंथा जाता है।^३ अपनी कृतियों में वाण ने काव्य और गद्य की शैली के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं।^४ 'इस समय लोक में राग-द्वेष से भरे हुए, वाचाल, मनमाने ढंग से कविता करनेवाले (कामकारिणः) कुकवि भरे हुए हैं; ऐसे कवि घर-घर में हैं, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप-मात्र के वर्णन को कविता समझते हैं, किन्तु नई वस्तु का निर्माण करनेवाले कवि थोड़े ही हैं।' (असंख्या जातिभाजः, उत्पादका न बहवः कवयः)। इसमें 'जातिभाजः' पद द्वारा वाण ने उस पूर्ववर्ती शैली की ओर संकेत किया है, जिसमें स्वभावोक्ति पसन्द की जाती थी। वस्तु के यथार्थ रूप का बँसा ही कहना पहले के कवियों को इष्ट था। 'ललित-विस्तर', आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' आदि बौद्ध संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ

१. ओजःप्रकाशकैर्बर्णैर्वन्य आडम्बरः पुनः । तमासवहुला गौडी ...॥
—साहित्य-दर्पण ।

२. उदाहरण के लिए देखिए—'रविविरहविधुरायाः कमलिन्या हृदयमिव द्विधा पपाट चक्रवाकमियुनम् । आगमिष्यतो हिमकरदयितस्य पार्श्वे सञ्चरन्तो कुमुदिन्या भ्रमरमाला दूतोवालक्ष्यते ।'

३. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते ।

शिलामट्टारिकावाचि वाणोक्तिषु च सा यदि ॥—सरस्वतीकण्ठाभरणम्

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—वही, पृ० ३-५

इसी शैली में है। किन्तु धीरे-धीरे स्वभावोक्ति के प्रति लोगो की अरुचि हो गई और वनोक्ति पसन्द की जाने लगी। इस प्रतिक्रिया ने मुकुन्द की 'वासुवदत्ता' को जन्म दिया। वाण ने लगानार श्लेषों में भरी हुई शैली की प्रशंसा की है, साथ ही सुन्दर जानि (स्वभावोक्ति)-प्रधान वर्णनों को भी ग्राह्य माना है, ऐसी उभय शैली में श्रेष्ठ रचना की तुलना उन्होंने उस जूही की माना में की है, जिसमें चम्पक-मुष्प विरोध गए हैं—

निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महालग्नश्चम्पककुड्मलैरिव ।

वाण का कहना है कि उत्तरी भारत के लोगो में श्लेष-प्रधान शैली का रिवाज है, पश्चिमी भारत में शैली पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना अर्थ या कथावस्तु पर, दक्षिणात्य लोगों में कल्पना की उड़ान या उत्प्रेक्षा ही काव्य का गुण है, किन्तु गौड़ों में अर्थात् प्राच्य भारत में विकट शब्द-योजना ही पसन्द की जाती है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीचेष्टव्यंमात्रकम् ।

उत्प्रेक्षा दक्षिणान्येषु गौडेष्टक्षरदम्बर ॥

वाण ने इस प्रकार की शैलियाँ को एकाङ्गी माना है। उनके अनुसार विषय की नवीनता, सुरचिपूर्ण स्वभावोक्ति सरल श्लेष, स्पष्ट रूप में प्रतीयमान रस तथा भारी-भरजम शब्द-योजना श्रेष्ठ गद्य-रचना के लक्षण हैं—

नवोऽप्यो जातिरग्राम्या इतेषोऽकिञ्चिदप्यु स्तुतो रम ।

विकटाक्षरव्यघदघ वृत्तमेवत्र दुष्करम् ॥

इस समाक्य-प्रधान शैली का अपना नाम वाण की विनोचना है। वाण में अमिनव अर्थ की कल्पना^१, श्लेष-प्रधान शब्दों की अद्भुत योजना, दूररे के मन के भावों का यथार्थ चित्रण^२, वस्तुओं के यथार्थ वर्णन, समान-बहुल पद-विषय तथा कथा-वस्तु एवं शैली में प्रकट रूप में बहती हुई

१ उत्कृष्टकविगणमिष विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानामिनवार्थसंक्षयम् ।

२ अन्यचिन्तितस्यमायाभिप्रायवेदकम् । — वादम्बरी

रस-धारा—ये सभी सहज ही प्राप्त होते हैं ।

वाण ने तीन प्रकार की गद्य-शैलियाँ प्रयुक्त की हैं—उत्कलिकाप्राय (दीर्घ समासवाली), चूर्णक (छोटे-छोटे समासयुक्त पदों में बिखरी हुई) तथा वृत्तगन्धि (समासरहित) ।^१ राजवैभव, रमणी-विलास अथवा प्राकृतिक भव्यता के चित्रण में उत्कलिकाप्राय शैली का आश्रय लिया गया है, जिसमें दीर्घकाय समास, विपुल वाक्य, विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रकाव्य के सभी साधनों का प्रचुर प्रयोग दीख पड़ता है । शूद्रक, जादालि-आश्रम, विन्ध्याटवी, महारवेता और कादम्बरी के वर्णन इसी शैली के उदाहरण हैं । ऐसी प्रगाढ़ शैली के बाद वाण फिर वील छोड़ देते हैं । युवक दधीच का वर्णन शब्दाडम्बरपूर्ण उत्कलिकाप्राय शैली से आरम्भ करके अन्त में उनके पादर्वचर के वर्णन में छोटे-छोटे समासोंवाली चूर्णक शैली में समाप्त किया गया है । जहाँ विषय भासिक अथवा गम्भीर होता है, वहाँ वाण वृत्तगन्धि शैली का प्रयोग करते हैं, जो बड़ी सजक्त और प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है । इसमें वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, दीर्घ समासों का अभाव होता है और विशेषण-पद न्यून होते हैं । वाण ने मदन-श्रवणा ने पीडित पुण्डरीक की भर्त्सना कपिञ्जल के मुख से इसी शैली में कराई है । विरह-वर्णन में, उपदेश देने समय अथवा शिष्टाचार दिखाने समय वृत्तगन्धि प्रयुक्त हुई है । इसका अच्छा उदाहरण 'शुकनासोपदेश' में पाया जाता है ।

वाण ने भट्टार हरिचन्द्र के गद्य-ग्रन्थ की प्रशंसा करके यह उक्ति

१. अपादः पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा स्मृतम् ।

चूर्णकोत्कलिकाप्रायवृत्तगन्धिप्रसेदतः ॥

अफलोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः ।

तत्तु वैदमिरीतिस्थं गद्यं ह्युत्तरं भवेत् ॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं समासाद्यं वृढाक्षरम् ।

वृत्तकदेशसम्बन्धाद् वृत्तगन्धि पुनः स्मृतम् ॥ —छन्दोमञ्जरी

किया है कि वह हमकी शैली का आदर्श मानते हैं। इसमें पदों की सुन्दर रचना थी और इसकी रीति भी मनोहर थी। बाण की दृष्टि में शब्द ऐसे होने चाहिए, जो सुख-प्रबोध हों, सरलता से समझ में आ सकें और सुन्दर अक्षरों से बने हों।

हर्षचरित और कादम्बरी

‘हर्षचरित’ में बाण ने मगधात् हर्ष के जीवन, उनके व्यक्तित्व तथा क्षत्रिय समकालीन घटनाओं और पात्रों का वाच्यमयी शैली में वर्णन किया है। प्रारम्भ के दार्ढ्य जल्दबाय में बाण ने अपने जीवन की भी कुछ झलकियाँ दी हैं। वर्णन की आलंकारिक और वाच्य-प्रचुर शैली के कारण ‘हर्षचरित’ विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व कम नहीं है। हर्ष के समकालीन चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से ‘हर्षचरित’ की घटनाएँ मेल खाती हैं और बाण के सूक्ष्म एवं व्योरेवार वर्णन में उसके यात्रा-विवरण की यथायथा परस्पर में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार-विचार की दृष्टि में बाण ने सांस्कृतिक महत्त्व की बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है।

‘कादम्बरी’ संस्कृत-साहित्य की सर्वोत्तम कथा अथवा उपन्यास है। उसमें चन्द्रापीड और कादम्बरी की प्रणय-कथा संस्कृत भाषा के समस्त वैभवं, गौरव और बौद्धिक के माय वर्णित है। ‘दशरुमारचरित’ का भी उतने ही मुख्य कथा में अनेक उप-कथाएँ आ गई हैं, पर कवि ने पर्याप्त कुशलता से उनका निर्वाह और विनास किया है। विशद चरित्र-चित्रण, वर्णन प्रतिभा, भाषा-सौष्ठव तथा मानव-भावों के मार्मिक एवं सूक्ष्म अंकन में ‘कादम्बरी’ संस्कृत में एक बेजोड़ कृति है। उसमें बाण के बहुमुखी जीवन के विविध अनुभव नाराज हो गए हैं। तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं पर भी ‘कादम्बरी’ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस युग के नगर, उद्यान, राजपथ, अन्तपुर, हाट-बाजार, कला-बौद्धिक, धर्म और

विष्वास 'कादम्बरी' में वाण की सौन्दर्यदर्शी दृष्टि पाकर मूर्तिमान् प्रकट हुए हैं ।

वाण वर्णनात्मक शैली के धना हैं । उनकी वाणी यकना या रकना नहीं जानती । अपने वर्ण्य विषय को महिमा और सौन्दर्य से मण्डित करने में वह श्लेषों की झड़ी बाँध देंगे, विरोधाभास का तुमार खडा कर देंगे, श्लिष्ट उपमाओं, अनुप्रासों और यमकों का जगल ही लगा देंगे । इन वर्णनों से न उकताकर, उनके भीतर पैठकर, हमें रसास्वादन करना चाहिए—अकृपण कवि-प्रतिभा के आँदार्य का अवलोकन करना चाहिए; और तब वाण की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, उर्वर कल्पना, प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा अजल शब्द-राशि हमें मन्त्र-मुरध किए बिना न रहेंगी ।

परवर्ती गद्य-काव्यो पर वाण की छाप स्पष्ट दिखाई देती है ।^१ उनकी शैली का अनुकरण कवि-साफल्य का मापदण्ड माना जाने लगा । १०वीं शताब्दी की धनपाल की 'तिलकमञ्जरी' तथा वादीभसिंह की

१. वाण का प्रभाव गोस्वामी तुलसीदास पर भी देखा जा सकता है । 'रामचरितमानस' में चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए उन्होंने सिंह का उपमान दिया है—

पूरव दिसि गिरि गुह्य निवासी । परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्त नाग तम कुम्भ विदारी । ससि केसरी गगन वनचारी ॥
विद्युरे नभ मुकुताहल तारा । निसि सुन्दरी केर सिगारा ॥

इसकी तुलना वाण के इस वर्णन से करने पर कितनी समानता दिखाई देती है—'शशिकेसरिविदार्यमाण तम करिकुम्भसम्भवेन भुक्ताफल-
क्षोदेनेद धवलतामुपनीवमानमुदयगिरिसिद्धसुन्दरीकुचच्युतेन चन्दनचूर्ण-
शशिनेव पाण्डुरीक्रियमाणम् ।'

तुलसीदासजी ने—

जहँ विलोकि मृगसादक नयनी । जनु तहँ बरसि कमल सित सयनी ॥
लिखकर जो सुन्दर उत्प्रेक्षा की है, वह बहुत पहले वाण में हुई जा सकती है—'अपाङ्गविक्षेपश्चलितकृवलवधनमपीमिव क्रियमाणामवनीम् ।'

‘गद्य चिन्तामणि’ ऐसी ही रचनाएँ हैं। इसी समय के लगभग साहित्य में चम्पू-ग्रन्थों का निर्माण किया जाने लगा, जिनमें गद्य-पद्य दोनों का समान रूप में व्यवहार हुआ है।

संस्कृत गद्य-काव्यों की विशेषताएँ

आज के ध्यानहारिक युग में मन्वृत्त के गद्य-काव्य एक विचित्र प्रकार का साहित्य उपस्थित करने हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं में उनके-जैसा गद्य निगूढ़ने की किसी को न कल्पना हो सकती है, न सामर्थ्य। वे तो उस प्राचीन युग की देन हैं जब प्रत्येक भद्र नागरिक में, वात्स्यायन के अनुसार, साहित्य-काव्य में पारंगत होने की अपेक्षा की जाती थी। जन, धन तथा अवज्ञान की वृत्तता, उला और मन्वृत्ति के प्रति अनन्य अनुराग, साहित्यकारों और कलाकारों का प्रभूत सम्मान, शिष्ट और सुशिक्षित विद्वन्-समाज—ऐसे वातावरण में निश्चिन्त होकर हमारे प्राचीन गद्याचार्यों ने, अपने समय में प्रचलित आदर्शों और रुढ़ियों के अनुसार, अपने समस्त उपार्जित ज्ञान-विज्ञान को मुक्त हृत्त से सहृदयों के लिए विनिरित किया था। उन आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी पर अपना वर्तमान युग की आवश्यकताओं की ध्यान में रखकर उनकी आलोचना या समीक्षा करना असम्भव होगा। अनकृत गद्य-गीत ही उनके मन में समादृत थी। समाज-वाङ्मय गद्य का प्राण ही समझा जाता था।^१ लाघव या लघुकायता मन्वृत्त गद्य का एक विशेष लक्षण है, अधि-से-अधि अधर्थ की कम-में-कम शब्दा में व्यापक करना उसका ध्येय है। जन समाजता का प्रयोग इसके लिए अनिवार्य होता है।

संस्कृत में गद्य का नमावस काव्य के उन्मर्ग ही किया गया है।^२ इस विभागीकरण से भी संस्कृत गद्य का काव्यत्व लक्षित हो जाता है।

१ श्लोक समासभूयस्त्वनेतद्गद्यस्य जीदितम् ।—वाच्यादर्श १।८०

२ पद्य गद्य च मिथ च तत् त्रिवैव व्यवस्थितम् ।—वाच्यादर्श १।११

काव्य-रचना के लिए छन्दोबद्धता अनिवार्य नहीं है, इसका पुष्ट प्रमाण संस्कृत के गद्य-काव्य है। लोक-कथाओं से कथानक का बीज लेकर उन्हें पद्यकाव्यों की शैली पर ही पल्लवित किया गया है। प्रकृति का विस्तृत चित्रण, नायक-नायिका की शारीरिक और मानसिक दशा का अतिरजित अंकन, कल्पना और पाण्डित्य का गहरा पुट तथा अलंकारों एवं पौराणिक मंकेतों का प्रचुर प्रयोग—इन गद्य-काव्यों की विशेषताएँ हैं। उनमें संस्कृत भाषा अनुचरों से बिरे सजाट् की भांति प्रस्थान करती है, और कथा पीछे-पीछे प्रच्छन्न भाव में छत्रधर की भांति आता है। यदि लोक-कथाओं के सीधे-सादे कथानक को साहित्यिक सौन्दर्य से प्रतिमण्डित देखना हो; कल्पना-वैचित्र्य, पदलालित्य, भाषा-सौष्ठव और वर्णन-वैभव का एकत्र चमत्कार देखना हो; भावग्राहिता और गाढ़वन्धता का निराला ठाठ, ओज और प्रीढत्व का उदात्त सन्निवेश एवं वैदग्ध्य और वाक्पटुता का चातुर्निदर्शन अनुभव करना हो तो संस्कृत गद्य-काव्यों का अनुशीलन करना चाहिए। उनकी गद्य-गरिमा के समक्ष आज की व्यावहारिक भाषा गौरवन्त गजराज के समक्ष चंचल भरवी धोड़ी की तरह नगती है। लोक-सम्पर्क से दूर होने पर भी उस गजराज की शान और शोभा से कौन इन्कार कर सकता है !

वर्तमान युग

वर्तमान युग में भी संस्कृत गद्य का अनुशीलन अप्रचलित नहीं है। काशी के स्वर्गीय पंडित अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराज-विजय' प्राचीन शैली के प्रौढ गद्य का श्रेष्ठ नमूना है। उनकी वर्णन-चातुरी और शब्द-योजना अतिशय आकर्षक है। पंडित हृषीकेश शास्त्री भट्टाचार्य की 'प्रवन्ध-मञ्जरी' में सामयिक विषयों पर सुवचिपूर्ण निबन्ध संगृहीत हैं। उन्होंने 'विद्योदय' नामक संस्कृत-पत्रिका का लाहौर से ४४ वर्ष तक सम्पादन किया था। उनकी भाषा अत्यन्त प्राञ्जल तथा प्रवाहपूर्ण है। उनकी-सी सरस व्यंग्य-शैली आधुनिक संस्कृत गद्य में बहुत कम देखी।

जाती है। पटिता क्षमा राव को उस शताब्दी की प्रथम कोटि की संस्कृत-लेखिका एवं कवयित्री के रूप में स्मरण किया जाएगा, जिन्होंने प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाकर एक चिर-पुराण भाषा में नवीन प्राण फूंकने की चेष्टा की। उनकी 'कथा-मुस्तावनी' सरल, प्रामादिक गद्य में रचित कहानियों का संग्रह है। ये कहानियाँ रोचकता एवं घटना-वैचित्र्य की दृष्टि से आधुनिक युग के सर्वथा उपयुक्त बन पड़ी हैं।

इन्दौर के श्रीपाद शास्त्री ह्यूमरस ने सरल और प्रवाहपूर्ण गद्य में कई चरितात्मक शोधों का प्रणयन किया है। श्रीकृष्णमाचार्य ने 'रघुवश-विमर्श' लिखा है। नागपुर के पंडित मेघनाथ कविरत्न ने 'शिवराजविजय' के अनुकरण पर 'कुमुदिनी-चन्द्र' नामक उपन्यास लिखा है। स्वामी भागवताचार्य तथा श्री चाण्देव शास्त्री ने महात्मा गांधी की जीवनी को संस्कृत गद्य में उतारा है। बगलौर की श्रीमती राजम्मा के 'चन्द्रमौलि' उपन्यास में सामाजिक बुराईयाँ पर अच्छा प्रकाश टाना गया है। काशी के श्री नारायण शास्त्री निस्ते ने सरल और प्राञ्जल गद्य में 'विद्वच्चरित-पञ्चकम्' लिखा है। मद्रास के श्री व्यासराय शास्त्री ने कानिदास-नाट्य-कथा-अञ्जरी' के नाम से कानिदास के नाटकों की कहानी बढ़िया गद्य में लिखी है। इसी प्रकार पंडित महानिद्ध शास्त्री ने भाग के नाटकों की कथाओं लिखी हैं। मद्रास के एक विद्वान् ने दोस्मपियर के नाटकों की कथाओं को प्रवाहपूर्ण संस्कृत गद्य का परिधान पहनाया है। श्री हरिचरण भट्टाचार्य ने बन्धिमचन्द्र के उपन्यास 'कपानकुण्डला' का इसी नाम से संस्कृत में रूपान्तर किया है और उनके 'नाण्यमयी' उपन्यास का अनुवाद कोन्हापुर के श्री अण्णाशास्त्री ने किया है। श्री जगन्नाथप्रसाद के हिन्दी-उपन्यास 'मसार-चक्र' का अनुवाद श्री अनन्ता-चार्य ने किया है। त्रिवेन्द्रम् के स्वर्गीय पंडित टी० के० गणपति शास्त्री ने 'सेतुपात्रावर्णनम्' नामक एक यात्रा-ग्रन्थ लिखा, जो पाठिन्यपूर्ण किन्तु सरल संस्कृत गद्य का अच्छा नमूना है। वाराणसी के डा० मंगलदेव शास्त्री ने अपने 'प्रवचन-प्रकाश' में वैदिक विषयों पर अच्छे प्रबंध लिखे हैं।

‘स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा ने ‘भारतानुवर्णनम्’ नाम से भारत का एक संक्षिप्त इतिहास लिखा था। श्रीहंसराज अग्रवाल तथा श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने संस्कृत-साहित्य का इतिहास संस्कृत में लिखा है। ‘भाषा’ (संस्कृत-साप्ताहिक) के सम्पादक श्री सोमयाजी ने टाल्सटाय की एक पुस्तक का ‘कणः लुप्तः गृहं वहति’ (एक चिनगारी पर जला देती है) के नाम से अनुवाद किया है, जिसमें संस्कृत का सरलतम रूप दर्शनीय है।

संस्कृत गद्य में आज भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, जिनके द्वारा काफी मौलिक रचनाएँ सामने आई हैं। साप्ताहिक पत्रों में ‘भवितव्यम्’ (नागपुर), ‘संस्कृतम्’ (अयोध्या), ‘भाषा’ (गुन्नूर) और ‘पण्डित-पत्रिका’ (काशी) के नाम उल्लेखनीय हैं। मासिक पत्रों में ‘मञ्जूषा’ (कलकत्ता), ‘भारती’ (जयपुर), ‘संस्कृत-रत्नाकर’ (दिल्ली), ‘बालसंस्कृतम्’ (बम्बई), ‘मधुरवाणी’ (गदग—कर्नाटक), ‘उद्यान-पत्रिका’ (तिरुवैयक—तंजौर), ‘सूर्योदय’ (काशी) और ‘वैदिकमनोहरा’ (काजीवरम्) के नाम लिए जा सकते हैं। त्रैमासिक पत्रिकाओं में ‘सरस्वतीनुपमा’ (वाराणसी), ‘ब्रह्मविद्या’ (अड्यार) तथा ‘महाराज-संस्कृतपत्रिका’ (मैसूर) प्रमुख हैं।

लोक-व्यवहार से दूर जा पड़े संस्कृत गद्य को लोकप्रिय बनाने में इन सब प्रकाशनों का योग बहुमूल्य माना जाएगा। वस्तुतः संस्कृत को अनु-प्राणित करने के लिए आज उसके गद्य को सरल, लघु और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता है—रूढ़िवाद को तोड़कर उसमें चोज (सारवत्ता) और चटक, ज्ञान-विज्ञान की सजीवता और नवीनता, छोटों और ललितानों की खुली हवा और धूप लानी होगी, उसे युग-धर्म में दीक्षित करना होगा। सभी देववाणां संस्कृत सर्वजनप्रिय बनकर अपने सौरभ का प्रसार कर सकेगी।

अस्तुत संग्रह

संस्कृत के गद्य-साहित्य में से उत्कृष्ट अंशों को चुनकर आज तक अनेक

संग्रह नैवार किए गए है। प्रस्तुत संग्रह भी इसी परम्परा का निर्वाह करता है। फिर भी यह प्रयत्न किया गया है कि ऐसे ही गद्यांश लिए जाएं, जो वर्तमान परिस्थितियाँ के सम्बन्ध में सायक एव उपादेय सिद्ध हों। शृङ्गारिक स्थल इयम प्राप्त नहीं के बराबर मिलते, फिर भी शक्ति-कुमार की भावी पत्नी की पात्रकला-प्रवीणता एव अनवद्य मुदरता, शिवाजी और रागनारा का अश्रु-सिक्ता मवाद तथा कश्मीरी सुन्दरी हिमा का जदम्य साहस एव एकनिष्ठपति-प्रेम दम सक्त्रन का नीरम और ह्य नही बनन दग। सरकारी कर्मचारियों के सम्भावित भ्रष्टाचार पर राग लगान का आग्रह कर कौटिल्य ने एक मामयिक प्रश्न को उठाया है। सुबन्धु ने खल-हृदय की खूबियों पर विस्तार से प्रकाश डालकर माना गास्वामी तुलसीदासजी की 'प्रथम बन्दि खल जन सनि भाएँ, जे विनु काज दाहिनेहु बाएँ' से प्रारम्भ होनेवाली खल-वन्दना का पूरामास दिया है। धीम्म की प्रचरता और लू-बपटा का वाण-वृत्त वर्णन आज भी दृग्भावर किया जा सकता है। शङ्कराचार्य-वृत धर्म की व्याख्या हमारे धर्म-निरपक्ष राज्य में भी शायद ही किसी को अमान्य हो। जहाँ 'सुननामोपदेश' में योवन और लम्बी के दुनिवार प्रमाण को नियन्त्रित करने की चेतावनी दी गई है, वहाँ चरक मुनि के 'सद्बृत्तम्' में एक शान्ति नागरिक की आचार-महिता उपस्थित की गई है। 'शब्दा-नुशासनम्' का प्रकरण एक कुशल भाषा सिन्धी की वृत्ति है, जो व्याकरण जैसा तारे के चने को जोदन पिण्डधन् मृदु और सुभाष्य बना देती है। 'केनोपनिषद्' वाली निरुक्त की कथा, जितने देवता अपनी महत्ता के श्रोत ब्रह्म को भूतकर स्वयं अपने को महिमावित्त मान बैठते हैं, क्या आज में उन जन-प्रतिनिधियों पर घटित नहीं हाँकी, जो यह भूत जाते हैं कि उनकी महिमा का सान जनता-जनार्दन है? जावालि और उनके तप-पूत आश्रम का वर्णन आज के वातावरण में मले ही विचित्र और अव्यावहारिक लगे, किन्तु नगरी की चकाचौंध में वस्तु नागरिकों के लिए वह निम्न-देश नेत्रमन-वान्तम् है। दावानल को भी शान्त हो

जाने का आदेश देनेवाले बतख-बच्चे की वाणी में क्या उस अहिंसक की तेजस्वी वाणी नहीं सुनी जा सकती, जो बड़े-से-बड़े अत्याचारी को भी सत्य-बल से पराजित कर देता है ? अपने माता-पिता से हर्ष का वियोग प्रत्येक तरुण को इस अवश्यम्भावी वज्रपात की पूर्व-सूचना देता है और 'विपदि धैर्यम्' का चिर सम्बल प्रदान करता है। नामानेदिष्ठ का निश्छल, सच्चा व्यवहार, जो प्रतिपक्षी को भी पानी-पानी कर देता है, उस देश में आज भी समादृत है, जिसकी भित्ति 'सत्यमेव जयते' की आधार-शिला पर खड़ी है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' का दीक्षान्त-भाषण हमारे सद्यःस्नातकों को सद्गृहस्थ बनाने में सहायक होगा तथा अथर्व-वेदीय ऋषि की उदात्त वाणी उन्हें आशा, उत्साह, आत्मविश्वास और आत्मोन्नति का ओजस्वी सन्देश देगी।

संस्कृत-गद्य-वीथी

१—भद्रं नो वितरन्तु देवाः

निर्दुर्मण्यः । ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीः स्थ । मधुमतीं वाचमुदेयम् । उपहूतो मे गोपाः, उपहूतो गोपीयः ।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम् । सुश्रुतिश्च मा उपश्रुतिश्च मा हासिष्टाम् । सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः ।

मूर्धाऽहं रयीणाम्, मूर्धा समानानां भूयासम् । रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टाम् । मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टम् ।

बृहस्पतिर्म आत्मा । तृमणा नाम हृद्यः । असन्तार्पं मे हृदयम्, उर्वी गव्यूतिः, समुद्रोऽस्मि विधर्मणः ।

नाभिरहं रयीणाम्, नाभिः समानानां भूयासम् । स्वासदसि सृषा अमृतो मर्त्येष्वा ।

मा मां प्राणो हासीत् । सूर्यो मा अह्नः पातु, अग्निः पृथिव्याः, वायुरन्तरिक्षात्, यमो मनुष्येभ्यः, सरस्वती पार्थिवेभ्यः ।

स्वस्ति अद्य उपसो द्रोपसश्च । सर्वा आपः सर्वगणो अशीय ।

—अथर्ववेद १६।२-४

१. जिस 'मा' के नीचे रेखा अंकित है, वह अनुदात्त स्वर है और 'माम्' के अर्थ में प्रयुक्त है ।

२—सत्यमेव जयते

नाभानेदिष्ठ वं मानव ब्रह्मचर्यं वसन्त भ्रातरो निरभजन ।
सोऽब्रवीदेत्य—‘किं मह्यमभाक्त ?’ इति ।

‘एतमेव निष्ठावमववदितारम्’ इत्यब्रुवन् ।

स पितरमेत्याब्रवीत्—‘त्वा ह वाव मह्यं तताभाक्षु’
इति ।

त पिताऽब्रवीत्—‘मां पुत्रकं तदादृथा । अङ्गिरसो वा
इमे स्वर्गाय लोकार्यं सत्प्रमासते । तेषु पृष्ठे पृष्ठमेवाहरागत्य
मुह्यन्ति । तानेते सूक्ते पृष्ठेऽहनि शसय । तेषां यत् सहस्रं
सत्प्रपरिवेषणं तत्तं स्वर्गन्तो दास्यन्ति’ इति ।

तथेति । तानुपंत—‘श्रित्तिगृणीत मातृव सुमेधस’ इति ।

तमब्रुवन्—‘किकामो वदास ?’ इति ।

‘इदमेव व पृष्ठमहं प्रज्ञापयानि’ इत्यब्रवीत् । ‘अथ
यद्वा एतत् सहस्रं सत्प्रपरिवेषणं तन्मे स्वर्गन्तो दत्त’ इति ।

तथेति । तानेते सूक्ते पृष्ठेऽहन्यशंसयत् । तातो वं ते प्र
यज्ञमजानन्, प्र स्वर्गं लोकम् । तद् यदेते सूक्ते पृष्ठेऽहनि शसति,
यज्ञस्य प्रज्ञात्यं, स्वर्गस्य लोकम्यानुख्यात्यं । त स्वर्गन्तोऽब्रुवन्—
‘एतत्ते ब्राह्मणं सहस्रम्’ इति ।

तदेन समाकुर्वाणं पुरुषं कृष्णशवास्युत्तरत उपोत्थाया-
ब्रवीत्—‘मम वा इदं, मम वै वास्तुहम्’ इति ।

सोऽब्रवीत्—‘मह्यं वा इदमदु’ इति ।

तमब्रवीत्—‘तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्न’ इति ।

स पितरमंत । त पिताऽब्रवीत्—‘ननु ते पुत्रकं, अदु ?’
इति ।

‘अदुरेव मे’ इत्यब्रवीत्—‘तत्तु मे पुरुषं कृष्णशवास्युत्तरत
उपोदतिष्ठत्—‘मम वा इदं मम वै वास्तुहम्’ इत्यादित
इति ।

तं पिताऽब्रवीत्—‘तस्यैव पुत्रक तत् । तत्तु स पुत्रक तुभ्य दास्यति’ इति ।

स पुनरेत्याह—‘तव ह वाव किल भगव, इति मे पिताऽऽह’ इति ।

मोऽब्रवीत्—‘तदहं तुभ्यमेव ददामि, य एवं सत्यमवादीः, इति ।

ऐतरेयब्राह्मणम् २२।६

३—आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ।

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं घनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयाऽऽसनेन

प्रवृत्तव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । मविदा देयम् ।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा म्यात्,
य तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन, युक्ता, आयुक्ता, अलूक्षा, धर्म-
कामा स्यु, यथा ये तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेय। । एष आदेश ।
एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुगामनम् ।
एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

—संतिरोपोपनिषत् १।११

४—ब्रह्म एव महीयते

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य ह ब्रह्मणां विजये देवा
धर्महीयन्त । त ऐक्षन्नाम्माकमेवाय विजयोऽम्माकमेवाय
महिमेति । तद्वैषा विजज्ञां । तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव । तन्न व्यजानत
किमिद यक्षमिति ।

तेऽग्निमब्रुवन्—जानवेद एतद्विजानीहि किमिद यक्षमिति ।
तथेति । तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्य-
ब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति । तस्मिन्स्वयि कि वीर्यमिति ?
अपीद सर्वं दहेय यदिद पृथिव्यामिति । तस्मै तृण निदधा-
वेतद्देहि । तदुपप्रेयाय सवज्जवेन तन्न शशाक दग्धुम् । स नत एव
निववृते, नैतदगव विज्ञानु यदेतद्यक्षमिति ।

अथ वायुमब्रुवन्—वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति ।
तथेति । तदभ्यद्रवत् । तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अह-

मस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति । तस्मिस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति । तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजनेन तन्न शशाकादानुम् । स तत एव निदवृत्ते, नैतदशकं विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ।

अथेन्द्रागब्रुवन्—मधवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति । तदग्निद्रवत् । तस्मात्तिरोदधे । स तस्मिन्नेवाकाशे स्थियमाजगाम । बहुशोभमानामुमां हैमवती तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ।

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति । ततो ह्येव विदाञ्चकार ब्रह्मेति । तस्माद्वा एते देवा अतितरामिव, न्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्टं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति । तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्शान्देवान् ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श, स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ।

—केनोपनिषत् ३.

५—अधिकारिवर्गेषु राज्ञो जागरूकता

अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाव्यक्षाः सक्तितः कर्मसु नियोज्याः । कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत् । चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम् । अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते । तस्मात् कर्तारं करणं देव कालं कार्यं प्रथममुदयं चैषु विद्यत् ।

ते यथासन्देशमसंहता अविगृहीताः कर्माणि कुर्युः । संहता

भक्षयेयु । विगृहीता विनाशययु । न चानिवेद्य भर्तुं कञ्चिदा-
रम्भं कुर्युं रण्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः । प्रमादस्थानेषु चैषामत्यय-
स्थापयेद्द्विवसवेतनव्ययद्विगुणम् । यश्चैषा यथादिष्टमर्थं भविष्येप
वा करोति स न्यानमानो तमेत ।

य ममुदय परिहापयति स गजार्थं भक्षयति । न चेदज्ञाना-
दिभिः परिहापयति तदेन यथागुणं दापयेत् । य ममुदय द्विगुणमुद्-
भावयति स जनपदं भक्षयति । स चेद्राजं नमुपनयति । अल्पापराधे
वारयितव्यः । महति यथापराधे दण्डयितव्यः । य ममुदय
व्ययमुपनयति स पुरुषकर्माणि भक्षयति । स कर्मदिवसद्रव्य-
मूल्यपुरुषवेतनापहारेषु यथापराधे दण्डयितव्यः ।

तस्मादस्य यो यस्मिन्नधिकरणे शान्तस्थः स तस्य कर्मणो
याथातथ्यमायव्ययौ च व्यासनामानाभ्यामाचक्षीत । मूलहर-
नादात्विक्कदर्याश्च प्रतिषेधयेत् । यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन
भक्षयति स मूलहरः । यो यद्यद्दुत्पद्यते तत्तद्भक्षयति न नादान्विक ।
यो भृत्यात्मपीडाभ्यामुपचिनोत्यर्थं स कदर्यः ।

अध्यक्षा सन्यायकलेखकरूपदर्शकनीवीगाह्वरेत्तराध्यक्ष-
सस्ता कर्माणि कुर्युः । हृन्म्यद्वरयारोहान्नेषामन्तेवामिनः शिल्प-
शौचयुक्ता सन्यायकादीनामपमर्षाः । बहुमुन्मत्तान्य चानि-
वृत्तं न्यापयेत् ।

मत्स्या ययान्त मलिले चरन्तो

ज्ञातुं न शक्याः सन्तिलं पिवन्तः ।

युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता

ज्ञातुं न शक्याः धनमाददानाः ॥

अपि शक्याः गतिर्ज्ञानं पतनां चैव पतत्रिणाम् ।

न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरता गतिः ॥

न भक्षयन्ति ये त्वर्थान्न्यायतो वर्धयन्ति च ।
नित्याधिकाराः कार्यास्ते राजः प्रियहिते रताः ॥

—कौटिल्यः, अर्थशास्त्रम् २।६

६—अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्

अथ शब्दानुशासनम् ।

केषां शब्दानाम् ?

लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावद्— 'गौः,
अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः' इति । वैदिकाः
खल्वपि— 'शं नो देवीरभिष्टये । इषे त्वोर्जे त्वा । अग्निमीडे
पुरोहितम् । अग्न आ याहि वीतये' इति ।

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुर-
ः विषाण्यर्थरूपं सः शब्दः ।

नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् ।

यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमित्तमिति स शब्दः ?

नेत्याह । क्रिया नाम सा ।

यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः ?

नेत्याह । गुणो नाम सः ।

यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ?

नेत्याह । आकृतिरिति सा ।

कस्तर्हि शब्दः ?

येनोच्चारितेन साम्नाताङ्गूलककुदखुग्विपाणिना सम्प्र-
त्ययो भवति न शब्द । अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द
इत्युच्यते । तद्यथा—शब्द कुर, मा शब्द कार्पा, शब्दकार्यय
माणवक, इति ध्वनि वुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनि शब्द ।

कानि पुन शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ?

रक्षोहागमलध्वसन्देहा प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानामध्येय-
व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपाल-
यिष्यतीति । ऊह खन्वपि—न सर्वलिङ्गं च सर्वाभिर्विभक्ति-
भिर्वेदे मन्त्रा निगदिता । ते चावस्य यज्ञगतेन पुरूपेण यथायथ
विपरिणमयितव्या । तान्नावैयाकरणं शक्नोति यथायथ,
विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येय व्याकरणम् ।

आगम सन्वपि—‘ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म पडङ्गो
वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ इति । प्रधानं च पट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् ।
प्रधाने च कृतो यत्न फलवान् भवति ।

लघ्वर्थं चाध्येय व्याकरणम् । न चान्तरेण व्याकरण
लघुनोपायेन शब्दा शब्दा ज्ञातुम् ।

अमन्देहार्थं चाध्येय व्याकरणम् । याज्ञिका पठन्ति—
‘स्यूलवृषणीमाग्निवारणीमन्द्वाहीमासभेन’ इति । तस्या
मन्देह—स्यूला चामी पृषती न स्यूलवृषती, स्यूलानि पृषन्ति
यस्या सेयस्यूलपृषतीति । अन्ता नार्वयात्तुण स्वरतोऽप्यस्यति—
यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वन्व नतो बहुव्रीहिः, अथ नमामान्तो-
दान्त्वं तनन्स्वुम्प इति ।

शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम् ।

तत्कथं कर्तव्यम् ? किं शब्दोपदेशः कर्तव्यः, आहोस्विदप-
शब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ।

यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत
एतद्—गाव्यादयोऽपशब्दा इति । अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते
गाव्यादिपूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य
शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य 'गावी',
'गोणी', 'गोता', 'गोपीतलिका' इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वा-
ख्यानं खल्वपि भवति ।

अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्ती प्रतिपदपाठः । एवं हि
श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां
शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच । नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च
प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं
जगाम । किं पुनरद्यत्वे ? यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं
जीवति । चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति— आगमकालेन,
स्त्राध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति । तत्र चास्या-
गमकालेनवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । तस्मादनभ्युपायः
शब्दानां प्रतिपत्ती प्रतिपदपाठः ।

—पतञ्जलिः, महामाष्यम् १।१।१

७—सत्सेवितः पन्थाः

मद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्याम । तद्यथा—देवगोब्राह्मणगुरु-
वृद्धसिद्धाचार्यानिर्चयेत् । जग्निमुपाचरेत् । औपधी प्रशस्ता
धारयेत् । द्वी कालावुपस्पृशेत् । मलायनेष्वभीक्षण पादयोश्च
वैमल्यमादध्यात् । त्रि पक्षम्य केशश्मश्रुलोमनखान् महारयेत् ।
नित्यमनुपहतवामा मुमना मुगन्धि स्यात् ।

माधुवेश , प्रसाधितकेश , मूर्धश्रोत्रघ्राणपादतैलनित्य ,
पूर्वाभिभाषी , मुमुख , दुर्गेष्वभ्युपपत्ता , होता , यष्टा , दाता ,
चतुष्पथाना नमस्कर्ता , वलीनामुपहर्ता , अतिथीना पूजक ,
पितृभ्य पिण्डद , काले हिनमितमधुगार्थवादी , वश्यात्मा ,
धर्मात्मा , हेतावीर्षु , फले नेर्षु , निश्चिन्त , निर्भीक , धीमान् ,
ह्यीमान् , महोत्साह , दक्ष , क्षमावान् , धार्मिक , आस्तिक , विनय-
बुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता , छत्री , दण्डी ,
माली , मोपानत्क , युगमात्रदृग्विचरेत् । मङ्गलाचारशील ,
कुचैलास्यकण्ठकामेध्यकेशतुपोत्करभस्मकपावस्नानदलिभूमीना
परिहर्ता । प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् । सर्वप्राणिषु बन्धुभूत
स्यात् । ऋद्धानामनुनेता , भीतानामाश्वामयिता , दीनानामभ्युप-
पत्ता , मल्यसन्ध , सामप्रधान , परपरुपवचनमहिष्णु , अमर्षघ्न ,
प्रशमगुणदर्शी , राजद्वेषहेतूना हन्ता ।

नानृत ब्रूयात् । नान्यस्वमादद्यात् । नान्यस्त्रियमभितपेन्नाम्य-
श्रियम् । न वैर रोचयेत् । न कुर्यात्पापम् । न पापेऽपि पापी स्यात् ।
नान्यदोषान् ब्रूयात् । नान्यरहस्यमागमयेत् । नाधार्मिकेन नरेन्द्र-
द्विष्टं सहामीत नोग्मर्त्तनं पतित्तर्नं भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रं दुष्टं ।

न दुष्टयानान्यारोहेत् । नाजानुसमं कठिनमासनमध्यासीत् ।
नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत, न गिरि-
विषममस्तकेष्वनुचरेत् । न द्रुममारोहेत् । न जलोन्नवेगमवगाहेत् ।
कूलच्छायां नोपासीत् । नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत् । नोच्चैर्हसेत् ।
न शब्दवन्तं मास्तं मुञ्चेत् । नासंवृतमुखो जृम्भां क्षवयुं हास्यं
वा प्रवर्तयेत् । न नासिकां कुष्णीयात् । न दन्तान् विघट्टयेत् ।
न नखान् वादयेत् । नास्थीन्यभिहन्यात् । न भूमिं विलिखेत् ।
न छिन्द्यात्तृणम् । न लोष्ट्रं मृद्गीयात् । न विगुणमंगं चेष्टेत् ।
ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत् । न हूं कुर्याच्छ्वम् ।
न चैत्यध्वजगुरुपूज्यागस्तच्छायां माक्रामेत् । न क्षपास्व-
मरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनरश्मशानाघातान्यान्यासेवेत् । नैकः
शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत् । न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान्
भजेत् । नोत्तमैर्विरुध्येत् । नावरानुपासीत् । न जिह्वं रोचयेत् ।
नानार्यमाश्रयेत् । न भयमुत्पादयेत् । न साहसातिस्वप्नप्रजा-
गरस्नानपानाशानान्यासेवेत् । नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् । न
व्यालानुपसर्पेन्ल दंष्ट्रिणो न विपाणिनः । पुरोवातात्पावश्या-
यातिप्रवातान् जह्यात् । कलिं नारभेत् । नासुनिभृतेऽग्नि-
मुपासीत् । नोच्छिष्टो नाधःकृत्वा प्रतापयेत् । नाविगतकलमो-
नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत् । न स्नानशाद्या स्पृशेद्दु-
त्तमांगम् । न केशाग्राण्यभिहन्यात् । नोपस्पृश्येत् एव वाससी
विभूयात् । नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमंगलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत् ।
न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ।

नारत्नपाणिनास्तातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा
देवताभ्यो नानिह्य पितृभ्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो
नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिवदनो
नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधित-

प्ररिचरो न पात्रीष्वमेवयासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाऽग्र-
मग्नये नाप्रोक्षित प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रित न कुत्सयन्
न कुत्सित न प्रतिकूलोपहितमग्नमाददीत, न पर्युपितमन्यत्र
मासहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः । नाशेषभुक् स्यादन्यत्र
दधिमधुलवणसक्तुसपिभ्यः । न नवन दधि भुञ्जीत । न सक्तूने-
कानशनीयात्, न निशि, न भुक्त्वा, न बहून्, न द्वि, नोदकान्न-
रितान्, न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत् ।

नानृजु क्षुयान्नाद्यान्न शयीत । न वेगिनोऽन्यकार्यं स्यात् ।
न वाय्वग्निमलिलमोमार्कद्विजगुम्प्रतिमुख निष्ठीविकावातवर्चो-
मूत्राण्युत्सृजेत् । न पन्थानमवमूत्रयेत् । न जनवति नान्नकाले
न जपहोमाध्ययनवलिमङ्गलत्रियासु श्लेष्मिह्वाणकः मुञ्चेत् ।

न सतो न गुह्यन् परिवदेत् । नाशुचिरभिचारकर्मचैन्य-
पूज्यपूजाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत् ।

न विद्युत्स्वनार्तवीपु, नाम्यदितामु दिक्षु, नातिमप्लवे, न
भूमिकम्पे, न महोत्सवे, नोत्कापाते, न महाग्रहोपगमने, न नष्ट-
चन्द्राया तिथौ, न मन्ध्ययो, नामुखाद् गुरो, नावपतितम्, नाति-
मात्रम्, न तान्तम्, न विस्वरम्, नातिद्रुतम्, न विलम्बितम्,
नातिवनीवम्, नात्युच्चं नातिनीचं स्वरैरध्ययनमभ्यसेत् ।

नातिममय जह्यात् । न नियम भिन्द्यात् । न नवन नादेशे
चरम् । न मन्ध्याम्बभ्यवहारध्ययनश्रीम्बजमेवी म्यात् । न
बालबृद्धलुब्धमूर्खविदष्टवलीवै सह सख्य कुर्यात् । न मद्यद्यूत-
वेश्याप्रमङ्गरुचि स्यात् । न गुह्य विवृणुयात् । न कञ्चिदव-
जानीयात् । नाहमानी स्यान्नादक्षो नादक्षिणो नासूयक । न
गवा दण्डमुद्यच्छेत् । न वृद्धान्, न गुह्यन्, न गणान्, न नृपान्
वाऽधिक्षिपेत् । न चातिब्रूयात् । न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीय-
गुह्यज्ञान् बहि कुर्यान् ।

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्, नाभृतभृत्यः, नाविश्रब्ध-
स्वजनः, नैकः सुखी, न दुःशीलाचारोपचारः, न सर्वविश्रम्भी, न
सर्वाभिशाङ्गी, न सर्वकालविचारी । न कार्यकालमतिपातयेत् ।
नापरीक्षितमभिनिदिशेत् । नेन्द्रियवशगः स्यात् । न चञ्चलं
मनोजुभ्रामयेत् । न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् । न चाति-
दीर्घसूत्री स्यात् । न क्रोधहर्षानुविदध्यात् । न शोकमनुवसेत् ।
न सिद्धावात्सुक्यं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम् ।

प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् । हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् हेत्वा-
रम्भनित्यश्च । न कृतमित्यादवसेत् । न वीर्यं जह्यात् । नापवाद-
मनुस्मरेत् ।

—चरकसंहिता ८

८—न यज्ञाग्निः प्रभवति

सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति
सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः । तद्यथानुश्रूयते ।

वोयिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्तरण्यायतने वर्तकापोतको भवति
स्म । स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः

परिदुर्बलन्त्रादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेश स्वमातापितृप्रयत्नरचिते-
 तृणगहनोपगूढे गुन्मलतासनिश्चिते नीडे मन्वहुर्लभानृभि साधं
 प्रतिवर्तति स्म । तदवम्योर्जप चापरिप्लुतधर्मसंज्ञत्वान्मातापितृ-
 भ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छन्ति स्माभ्यवर्तुम् । यदेव त्वस्य तृण-
 बीजन्यग्रोधफलात्पुपजह्लतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास । तस्य
 तथा रक्षाल्पाहारतया न काय पुष्टिमुपययो । नापि पक्षी सम्यक्
 प्रविरोहतु । इतरे तु वर्तकापोतका ययोपनीतमाहारमभ्यवह-
 रन्तो बलवन्त सञ्जातपक्षारश्च बभूवु । धर्मता ह्येषा यदुन—

धर्माधर्मनिराशङ्क नवांशी सुखमेधते ।
 धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दु खित ॥
 ह्रीमना त्विह दुर्जोवि नित्य शुचिगवेपिणा ।
 सलोनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥

तेषामेवमवस्थाना नानिदूरे महान्वनदाव प्रतिभयप्रमक्न-
 निनदो विजृम्भमाणपूमराशिर्विभीर्यमाणज्वालावलीलोविस्फु-
 लिङ्ग सन्धाननो वनचरणामनयो वनगहनाना प्रादुर्भवत् ।

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गमार्थं
 परिभ्रमद्भीतमृग ममन्तात् ।
 धूमोषमग्न पटुवह्निसब्द
 वन तदात्येव भृश ररास ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान म इव वह्नि पटुना मार्गतेन तृणगहना-
 नुसारी तेषा नोडममीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतकाभय-
 विरमव्याकुलविरावा परस्परनिरपेक्षा सहसा ममुत्प्रेतु । परि-
 दुर्बलत्वाद्मञ्जातपक्षत्वाच्च बोधियत्त्वन्तु नोत्पत्तिनु प्रयत्न
 चकार । विदिनात्मप्रभावम्बवमभ्रान्त एव स महामत्त्वः-

सरभसमिवोपसर्पन्तमग्निं सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरुद्धपक्ष-

स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनी ।

त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातियेय-

मस्मान्निर्वर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने ॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन

सोऽग्नि-

विशुष्कससक्ततृणेऽपि

कक्षे ।

नदीमिव

प्राप्य

विवृद्धतोया

तद्वाचमानाद्य

शशाम

सद्यः ॥

अद्यापि त्वं हिमवति प्रथित प्रदेश

दावाग्निरुद्धनशिखोऽपि

समीरणेन ।

मन्त्राभिज्ञप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः

मङ्गोच्चमन्दलुलिताचिरुपैति

शान्तिम् ॥

तत्किमिदमुपनीतमिति, उच्यते—

वेलामिव

प्रचलितोमिफण

समुद्रः

शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव

सत्यकामः ।

सन्धात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञा

शक्नोति कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात् ॥

तदेवं सत्यवचनपरिभाविता वाचमग्निर्गपि न प्रसहते

लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः ।

— आर्यशूरः (जातकमालायां वर्तकापोतकजातकम्)

६—दारगुणाः

अस्ति द्रविडेषु काञ्ची नाम नगरी । तस्यामनेककोटिसार
श्रेष्ठिपुत्र शक्तिकुमारे नामामीत् । सोऽष्टादशवर्षदेशीय-
चिन्तामापेदे—‘नास्त्यदाराणाम् अननुगुणदाराणा वा सुख
नाम । तन्मय नु गुणवद् विन्देय कलत्रम्’ इति ।

अथ परप्रत्ययाहनेषु दारेषु यादृच्छिकी सम्पत्तिमन-
भिसमीक्ष्य कार्तान्तिको नाम भूत्वा वस्त्रान्तपिनद्धशालिप्रस्थो
भुव वभ्राम । ‘लक्षणोऽयम्’ इत्यमुष्मं कन्या कन्यावन्त
प्रदर्शयाम्बभूवु । या काञ्चिन्लक्षणवती सवर्णा कन्या दृष्ट्वा स
विल स्म व्रवीति—‘भद्रे, शक्तोपि विमनेन शक्तिप्रस्थेन गुण-
वदन्नमस्मानभ्यवहारयितुम्’ इति । स हसितावधूतो गृहाद्
गृह प्रविश्याभ्रमत् ।

एकदा तु शिविषु कावेरोनीरपत्तने मह पितृभ्यामवसित-
मर्द्धिमवशीर्णं भवनमारा धात्र्या प्रदर्शयन्नात् काञ्चन विरल-
भूपणां कुमारी ददर्श । अस्या ससक्तचतुर्चातकंयत्—‘अस्या
खलु कन्यकाया सर्व एवात्रयवा नातिस्थूला नातिकृशा नाति-
ह्रस्वा नातिदीर्घा न विकटा मृजावन्नश्च । रक्तलाङ्गुली
यवमत्स्यकमनकलशाघनेकपुप्यलेखालाञ्छिनी करो, सम-
गुत्प्रसन्धी मासलावशिराली चाङ्ग्री, तनुतरपीपन्निम्न
गम्भीर नाभिगण्डलम्, बलित्रयेण चातङ्कृतमुदरम्, घनघान्य-
पुत्रमूयन्वचिह्नलेखालाञ्छितनले स्निग्धोदप्रकोमलनरतमणी
ऋज्वनुपूर्ववृत्तनाम्नाङ्गुली मननासदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्न-
पर्वसन्धी च बाहुलते, तन्वी कम्बुवृत्तवन्धुरा च कन्धरा, वृत्त-

मध्यविभक्तरागावरम् असंक्षिप्तचासुचिद्रुकम् आपूर्णकठिन-
गण्डमण्डलम् असङ्गतानुवक्रनीलस्निग्धभ्रूलतम् अनतिप्रौढ-
तिलकुसुमसदृशनासिकम् असितधवलरक्तत्रिभागभासुरमधुरा-
धीरसञ्चारमन्यरायतेक्षणम् इन्दुशकलसुन्दरललाटम् इन्द्र-
नीलशिलाकाररम्यालकपंक्ति द्विगुणकुण्डलितम्लाननालीकनाल-
ललितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभङ्गुरो बहुलः
पर्यन्तेऽप्यकपिकलरुचिरायामवानेकैकनिसर्गसमस्निग्धनीलो गन्ध-
ग्राही च मूर्धजकलापः । सेयमाकृतिर्न व्यभिचरति शीलम् ।
आसज्जति च मे हृदयमस्यामेव । तत्परीक्ष्यैतामुद्धहेयम् ।
अविमृश्यकारिणां हि नियन्मनेकाः पतन्त्यनुशयपरम्पराः' इति
स्निग्धदृष्टिराचष्ट — 'भद्रे, कच्चिदस्ति कौशलं शालिप्रस्थेनानेन
सम्पन्नमाहारमस्मानभ्यवहारयितुम्' इति ।

ततस्तया वृद्धदासी साकृतमालोकिता । तस्य हस्तात्प्रस्थ-
मात्र धान्यमादाय क्वचिदलिन्दोद्देहे मुस्तिक्तसंमृष्टे दत्तपादगौच-
मुपावेशयत् । सा कन्या तान् गन्धशालीन्संधुच्च मात्रया विशो-
प्यातपे मुहुर्मुहुः परिवर्त्य स्थिरसमायां भूमौ नालीपृष्ठेन मृदु
मृदु घट्टयन्ती तुपैरखण्डैस्तण्डुलान् पृथक्चकार । जगाद च
घात्रीम्—'मातः, एभिस्तुपैरथिनी भूपणमृजाक्रियाक्षमैः
स्वर्णकाराः । तेभ्य इमान्दत्त्वा लब्धाभिः काकिणीभिः स्थिर-
तराण्यनत्यार्द्राणि नातिशुष्काणि काष्ठानि मितपंचां स्थालीमुभे
शरावे चाहर' इति ।

तथाकृते तया तांस्तण्डुलाननतिनिम्नोत्तानविस्तीर्णकुक्षी
ककुभोलूखले लोहपत्रदेष्टितमुखेन समशरीरेण विभाव्यमान-
मध्यतानवेन व्यायतेन गुरुणा खादिरेण मुसलेन चतुरललितो-

तक्षपणावक्षेपणायामितभुजम् अमकृदद्गुलिभिरुद्धृत्योद्धृत्यावहृत्य
 शूर्पशोधितकणकिसारकास्नण्डुलानसकृदद्भिः प्रक्षाल्य क्वथित-
 पञ्चगुणे जले दत्तचुन्लीपूजा प्राक्षिपत् । प्रश्लवावयवेषु
 प्रम्फुरत्सु तण्डुलेषु मुकुलावस्थामतिवर्तमानेषु साक्षिप्यानलमुप-
 हितमुखपिधानया स्यात्यान्नमण्डमगालयत् । दर्व्या चाधधट्टघ
 मात्रया परिवर्त्य समपक्वेषु मिक्थेषु ता स्थानीमघोमुखीमवा-
 तिष्ठिपत् । इन्धनान्यन्त सागण्यम्भमा ममभ्युक्ष्य प्रशमितान्-
 ग्नीनि कृष्णाङ्गारीकृत्य तदर्थिभ्यः प्राहिणोत्—‘एभिन्नध्या
 काकिणीर्दत्त्वा शाक घृत दधि तैलमामलक चिञ्चाफन च
 यथा-लाभमानय’ इति ।

तथानुष्ठिते च तथा द्विधानुपदशानुपपात्र नदन्नमण्डमाद्रं-
 बालुकोपहितनवशरावगनमतिमृदुना तालवृन्तानिजेन जीतरी-
 कृत्य, मलवणमम्भार दत्ताङ्गारूपवाम च सम्पाद्य, तदप्यामलक
 श्लक्ष्णपिष्टमृत्पलगन्धि कृत्वा धानीमुखेन स्नानाय तमचोदयत् ।
 तथा च स्नानशुद्धया दत्ततैलामलक क्रमेण भस्मौ । स्नात
 मिक्त्तमृष्टे कुट्टिमे फनकमाह्ला पाण्डुहरितस्य त्रिभागशेष-
 लूनस्याङ्गणकदलीपलाशस्योपरि दत्तशरावद्वयमाद्रंमभिमृगन्न-
 तिष्ठत् । सा तु ता पेयामेयाग्रे समुपाहरत् । पीत्वा चापनीताध्व-
 वनम प्रहृष्ट प्रकिन्तमवलगात् स्थितोऽभूत् ।

ततस्तस्य शाल्योदनस्य दर्वीद्वय दत्त्वा सर्पिर्मात्रा मूपमुप-
 दश चोपजहार । इमं च दध्ना च त्रिजानकावचूर्णितेन मुग्भि-
 शीतलाभ्या च कालशेषकाञ्जिकाभ्या शेषमन्नमभोजयत् ।
 सशेष एवान्धस्यसावतृष्यत् । अयाचत पानीयम् । अथनव
 भृङ्गारसम्भृतमगुग्धूपघूपितमभिनवपाटलाकुसुमवामिनमुत्फुल्लो-

त्पलग्रथितसौरभ वारि नालीधारात्मना पातयाम्बभूव । सोऽपि
मुखोपहितशरावेण हिमशिशिरकणकरालितास्णायमानाक्षिपक्ष्मा
धारारवाभिनन्दितश्रवणः स्पर्शमुखोद्भिन्नरोमाञ्चककंश-
कपोल . परिमलप्रवालोत्पीडफुल्लघ्राणरन्ध्रो माधुर्यप्रकर्षा-
वजितरसनेन्द्रियस्तदच्छं पानीयमाकण्ठं पपी । शिरःकम्पसंजा-
वारिता च पुनरपरकरकेणाचमनमदत्त कन्या । बुद्धया तु
तदुच्छिष्टमपोह्य हरितगोमयोपलिप्ते कुट्टिमे स्वमेवोत्तरीय-
कर्पटं व्यवधाय क्षणमशेत ।

परितुष्टश्च विधिवदुपयम्य कन्यां निन्ये । नीत्वैतदनुपेक्षः
कामपि गणिकामवरोधमकरोत् । तामप्यसां प्रियसखीमिवो-
पाचरत् । पतिं च दैवतमिव मुक्ततन्द्रा पर्यचरत् । गृहकार्याणि
चाहीनमन्वतिष्ठत् । परिजन दाक्षिण्यनिधिरात्माधीनमकरोत् ।
तद्गुणवशीकृतश्च भर्ता सर्वमेव कुटुम्बं तदायत्तमेव कृत्वा
तदेकाकीनजीवितशरीरस्त्रिवर्ग निर्विवेश । तद्व्रवीमि—
'गृहिण. प्रियहिताय दारगुणा' इति ।

—दंडी (दशकुमारचरितम् ६)

१०—प्रणम्या दूरतः खलाः

अनिष्टोद्भ्रावनरसोत्तरं हि भवति खलहृदयम् । को
नामाऽस्य तत्त्वनिरूपणे समर्थः ? तथाहि—भीमो नवकद्वेषी,
आश्रयाशोऽपि मातरिश्वा, अतिकट्टुरपि महारसः, सर्पपस्नेह इव
करयुगलालितोऽपि शिरसा धृतोऽपि न कटुत्वं जहाति । ताल-
फलरस इवापातमधुरः परिणामविरसस्तिक्तश्च । पादपराग

इवावधूतोऽपि मूर्धानं कषाययति । त्रिपतरुप्रसूनमिव यथा यथा-
 ज्जुभूयते तथा तथा मोहमेव दृढयति । नीचदेशस्येव न
 वारिविरहोऽस्य जायते । निदाघदिवस इव बहुमत्सर सुमनसा
 मन्ताप वहति । अन्धकार इव दोषानुबन्धचतुरो विश्वकर्माव-
 लोपनोद्यतश्च । रुद्र इव विरूपाक्ष, विष्णुरिव चक्रधर ।
 शक्राश्च इवोर्च्चं श्रवा नदेशजप्रशसी च । शरस्येव विभिन्न-
 स्यापि मत स्नेह दशयत तक्राट इव हृदय विलोडयति ।
 यक्षबलिखिव आत्मघोषमुखरो मण्डतभ्रमणकश्च । मातङ्ग इव
 स्ववशालोलमुखोऽधरीकृतदानश्च । वृषभ इव सुरभियानविकल ।
 कामीव गोत्रस्खलनविधुरो वामाघ्वानुरक्तश्च । जीर्णरोग इव
 कलेवरं वचसि मन्दिमानमावहति । बञ्चक इव रक्त कटपले
 विभावरौरक्तश्च । परेत इव बन्धुतापदग्नं । परशुरिव
 भद्रश्रियमपि स्रण्डयति । कुदाल इव दलितगोत्र क्षमाभाज-
 प्राणिनश्च निकृन्तति । रतिकील इव जघन्यकर्मलग्नो ह्येषयति
 साधून् । दुष्टरूपश्रुतिरिव काननरचिरनुगतमपि यवम सतत
 नानुमोदते । अवाजादेव जायन्ते, अकाण्डादेव प्ररोहन्ति
 खलव्यमनाडकुरा, दुश्च्येदाश्च भवन्ति ।

असता हृदि प्रविष्टो दोषलव करालायते । सता तु हृदि न
 प्रविशत्येव । यदि कश्चमपि प्रविशति तदा पारद इव क्षणमपि न
 तिष्ठति । मृगा इव विनोदाविन्दोर्बशगा न भवन्ति नाधव ।
 सुख जना हि नवादृशा शरत्समया इव हरन्ति मित्रमण्डलस्य ।
 न च सचेतना विसदृशमुपदिशन्ति । अचेतनानामपि मैत्री
 समुचितपक्षे निक्षिप्त्वा । तथाहि—माधुर्यंशैत्यशुचित्वसन्ताप-
 शान्तिभि पय इति । शब्दमाभ्याच्च मित्रतामुपगतस्य तत्सङ्गमाद-
 भिर्वाधितस्य क्षीरस्य क्वाथे परतो ममैव क्षयो युक्त इति विचि-
 न्त्येव वारिणा क्षीयते ।

—सुबन्धु (दासवदत्ता)

११—दहति निदाघो नितराम्

कदाचित्कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः
सम्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः । प्रत्यग्रनिजितस्या-
स्तमुपगतवतो वसन्तसामन्तस्य वालापत्येष्विव पयःपायिषु
नवोद्यानेषु दर्पितस्नेहो मृदुरभूत् । अभिनवोदितश्च सर्वस्यां
पृथिव्यां सकलकुसुमबन्धनमोक्षमकरोत्प्रतपन्नुष्णसमयः ।
स्वयमृतुराजस्त्राभिवेकाद्राश्चामरकलापा इवागृह्यन्त कामिनी-
चिकुरचयाः कुसुमायुधेन । हिमदग्धसकलकमलिनीकोपेनेव
हिमालयानिमुखीं यात्रामदादंगुमाली ।

अथ ललाटन्तपे तपति तपने चन्दनलिखिलललाटिकापुण्ड्रकै-
रलकचीरचीवरसवीतैः स्वेदोदविन्दुमुक्ताक्षवलयवाहिभि-
दिनकराराधननियमा इवागृह्यन्त ललनाललाटेन्दुभिः । चन्दन-
धूसराभिरसूर्यम्पश्याभिः कुमुदिनीभिरिव दिवसमसुप्यत
सुन्दरीभिः । निद्रालसा रत्नालोकमपि नासहन्त दृशः, किमुत
जरठमातपम् । अशिशिरसमयेन चक्रवाकमिथुनाभिनन्दिताः
सरित इव तनिमानमानीयन्त भोजुषाः शर्वर्यः । अभिनवपट्ट-
पाटलामोदसुरभिपरिमलं न केवल जलम्, जनस्य पवनमपि
पातुमभूदभिलापो दिवसकरसन्तापात् ।

क्रमेण च खरखगमयूखे, खण्डितशैशवे, शुष्यत्सरसि, सीद-
त्स्रोतसि, मन्दनिर्झरे, कातरकपोतकूजितानुबन्धवधिरितविश्वे,
श्वसत्पतत्रिणि, करीपङ्कपमरुति, विरलवीरुधि, रुधिरकुतूहलि-
केसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरधातकीस्तवके, लोहितायमान-
मन्दारसिन्दूरितसीम्नि, धर्ममरितगर्मुति, तप्तपांशुकुकूलकातर-
विकिरे, विवरशरणश्वाविधे, रजनीराजयध्मणि, कठोरीभवति
निदाघकाले प्रावर्तन्तोन्मत्ता मातरिश्वानः ।

सर्वतश्च क्वचित्स्वच्छन्दतुण्चाग्निर्हृग्णा, क्वचित्स्व-
 तन्निविवरविवर्तितो ब्रह्मव, क्वचिज्जटादलम्विन कपिला,
 क्वचिच्छकुनिकुलकुलायपातिन श्येना, क्वचिद् धूमोद्गारा
 मन्दरचय, क्वचित्मकलजगद्ग्रामघम्मरा मभम्मका, क्वचित्
 वेणुशिखरलग्नमूर्तयोज्यन्तवृद्धा क्वचिदचनोपयुक्तशिवाजतव
 क्षयिण, क्वचिन्मर्वग्मभुज पीवान, क्वचिद्दग्धगुग्गुलवो गौद्रा
 क्वचिज्ज्वलितनेत्रदहनदग्धमकुसुमशर्मदना कृतम्याणुम्वितय,
 चटुलशिखा नर्तनारम्भारम्भटीनटा, स्वमपि धूममम्भोदममुद्-
 भूतिभिषेव भक्षयन्त, स्वेदिन इव विलीयमानमधुपटलगोल-
 गलितमघृच्छिष्टवृष्टय काननेषु, खलतय इव परिशीर्यमाण-
 शिखासहतयो महोपरेषु, गृहीतशिताक्वला इव उव्वितनसूर्य-
 मणिशकलेषु शिलोच्चयेषु, प्रत्यदृश्यन्त दाम्णा दावान्य ।

- वाणभट्ट (हर्षचरितम् २)

१२—किं स्वर्णम् ? चारिष्यम् ; को निकषो ? विपेदका

पातयति महापुष्पान्सममेव बहूनादरेणैव ।

परिवर्तमान एकः कालः अलानिवानन्तः ॥

अन्यस्मिन्नहनि समीपमस्य' (हर्षस्य) राजकुलात् द्रुतगति-
वशविशीर्ष्यमाणालङ्कारजाङ्कारिणी 'क्व कुमारः, क्व कुमारः ?'
इति प्रतिपुरुष पृच्छन्तो वेलेति नाम्ना यशोवत्याः प्रतीहार्या-
जगाम । विपण्णलोकलोचनप्रत्युद्गता चोपसृत्य कुट्टिमन्यस्तहस्त-
युगला गलन्तीभिः पिञ्चन्तीव गुप्यन्त दशनदीधितिधाराभि-
राघूसरमधरमधोमुखी विजापितवती-- 'देव, परित्रायस्व,
परित्रायस्य । जीवत्येव भर्तारि किमप्यध्यवसितं देव्या' इति ।

ततस्तदपरमाकर्ष्य च्युत इव नस्वेन, द्रुत इव दुःखेन,
आचान्त इव चिन्तया, तुलित इव तापेन, अङ्कीकृत इवातङ्केना-
प्रतिपत्तिरामीत् । आमीच्चास्य चेतसि प्रतिपन्तसंज्ञस्य--
'बहुजोऽपि हृदये दुःखाभिपङ्गो निपतन्तश्मनीव लोहप्रहारः
कठिने हृतभुजमुत्थापयति न तु भस्ममात्करोति मे निरनुक्रोशस्य
कायम्' इति ।

उत्थाय च त्वरमाणोऽल्लःपुरगमात् । तत्र च प्रविशन्नेव
निर्यान्तीम्, दत्तसर्वस्वापतियाम्, गृहीतमरणप्रसाधनाम्, ज्ञानकी-
मिव जातवेदसं पत्युः पुरः" प्रवेद्यन्तीम्, प्रत्यग्रस्नानार्द्रदेहतया
श्रियमिव भगवतीं सच्चः समुद्रादुत्थिताम्, कुसुम्भवभ्रुणी वाससी
दिवमिव तेजसी सान्ध्ये दधानाम्, चाध्या भर्तृ भक्त्या च निजया
प्रसाधिताम्, मूर्च्छया जरत्या च संस्तुतया धार्यमाणाम्, सख्या

पीडया च व्यसनसङ्गतया समालिङ्गिताम्, परिजनेन सन्तापेन च गृहीतसर्वावयवेन परीताम्, कुलपुत्रैश्चक्षुषितैश्च महत्तरैरधिष्ठिताम्, कञ्चुकिभिर्दु खँश्चातिवृद्धैरनुगता मातर ददर्श ।

दूरादेव च वाष्पायमाणदृष्टिरभ्यघात्—‘अम्ब, त्वमपि मा मन्दपुण्य त्यजसि ? प्रसीद । निवर्तस्व’ इत्यभिदधान एव च मस्नेहमित्र नूपुरमणिमरीचिभिश्चुम्ब्यमानचूडश्चरणयोर्न्यपतत् । देवी तु यशोमती तथा तिष्ठति पादनिहितशिरसि विमनमि प्रेयसि तनये गुरुणा गिरिणेवोद्वेगावेगेनावष्टभ्यमाना, कृत-प्रयत्नापि निवारयितु न शशाक वाष्पोत्पतनम् । वृत्तान्त गहं-माणा मुक्तकण्ठमतिचिर प्राकृतप्रमदेव प्रारोदीत् ।

प्रशान्ते च मग्युवेगे मस्नेहमुत्पापयामास सुतम् । सुतवदन-विनिहितनिभूतनयनयुगला चिर स्थित्वा पुन पुन जयत नि श्व-म्यावादीत्—‘बल, नागि न प्रियो निर्गुणो वा परित्यागाहो वा । स्तन्येनैव सह त्वया पीत मे हृदयम् । अस्मिञ्च समये प्रभूतप्रभुप्रसादान्नरिता त्ना च पश्यति दृष्टि । अपि च पुत्रक, कुलकलत्रमस्मि चारित्रमात्रधना धर्मधवल कुले जाना । वीरजा वीरजाया वीरजननी च मादृशी पराक्रमनीता कथमन्यथा कुर्यात् । एवविधेन पित्रा ते भरतभगीरथनाभागनिभेन नरेन्द्र-वन्दारकेण गृहीत पाणि । आसेवित मेवामभ्रान्तान्त-मामन्तसीमन्तिनीममावजितजाम्बूनदघटाभिपेक शिरसा । लब्धो मनोरथदुर्लभो महादेवीपट्टवन्धमत्कारणाभो ललाटेन । आपीती युष्मद्विधै पुत्रैर्मित्रकलत्रवन्दिवृन्दविधूयमानचाभरमर-च्चलचीनाशुकधरो पयोधरो । सपत्नीना शिर सु निहित नम-न्निखिलकटकटुटुम्बिनीकिरीटमाणिक्यमालाञ्चित चरणयुगल-

कम् । एवं कृतार्थसर्वावयवा किमपरमपेक्षे क्षीणपुण्या ?
मर्तुमविधद्वैव वाञ्छामि । न च शक्नोमि दग्धस्य स्वभर्त-
रार्यपुत्रविरहिता रतिरिव निरर्थकान् प्रलापान् कर्तुम् ।
मरणाच्च मे जीवितमेवास्मिन्समये साहसम् । अतिशीतलः पति-
शोकानलादक्षयस्नेहेन्धनादस्मादनलः । दुःखदग्धानां च भूति-
रमङ्गला चाप्रशस्ता च निरूपयोगा च भवति । वत्स, विधवानां
यशसा स्थातुमिच्छामि लोके न वपुषा । तदहमेव त्वा तावत्तात
प्रसादयामि न पुनर्मनोरथप्रातिकूल्येन कदर्थनीयास्मि ।
इत्युक्त्वा पादयोरपतत् ।

स तु ससम्भ्रममपनीय चरणयुगलम्, अवनमिततनु-
रुभयकरविधृतवपुषम् अवनितलगतशिरसम्, उदनमथन्मातरम् ।
दुर्निवारितां च शुचः समवधार्य, कुलयोपिदुचितां च तामेव
श्रेयसीं मन्यमानः क्रियाम्, कृतनिश्चया च तां ज्ञात्वा तूणीमधो-
मुखोऽभवत् ।

अभिनन्दति हि स्नेहकातरापि कुलीनता देशकालानु-
रूपम् । देव्यपि यशोवती परिष्वज्य समाध्याय च शिरसि
निर्गत्य चरणाभ्यामेव चान्तःपुरात्पौराक्रन्दप्रतिशब्दनिर्भराभि-
न्पृच्छ्यमानेव दिग्भिः सरस्वतीतीरं ययौ । तत्र च स्त्रीस्वभाव-
कातरैर्दृष्टिपातैः प्रविकसितरक्तपङ्कजपुञ्जैरिवार्चयित्वा
भगवन्त भानुमन्तमिव मूर्तिरैन्दवी चित्रभानु प्राविशत् ।

इतरोऽपि मातृमरणविह्वलो बन्धुवर्गपरिवृतः पितुः पार्श्वं
प्रायात् । अपश्यच्च स्वल्पावशेषप्राणवृत्तिं परिवर्त्यमानतारकं
तारकराजमिवास्तमभिलपन्तं जनयितारम् । असह्यशोकोद्रेका-
भिद्रुतञ्च त्याजितः स्नेहेन धैर्यम् । आञ्जलिप्यास्य सकलदुर्मद-

महीपालमीलिमालात्रालिनी पादपद्मां विमुक्ताशवश्चिर म्गोद ।

राजा तु तमुपख्यमानदृष्टिर्विरगन्दिनशब्दाश्रितश्रवण
प्रत्यभिज्ञाय शनै शनैर्गवादीन् — “पुत्र, नार्हस्येव भवितुम् । भव-
द्विधान ह्यमहामत्वा । महामत्त्वता हि प्रथमभवत्वन्व नोक्तस्य
पश्चाद्वाजवीजिता । मत्त्वदता चाग्रणी सर्वान्तिशयाश्रित व्य
भवान्, क्व नैकलव्यम् ? ‘कुलप्रदीपोऽग्नि’ इति दिवसकर-
सदृशतेजस्ते लघूकरणमिव । ‘पुष्पमिहोऽग्नि’ इति गीर्ष-
पटुप्रज्ञोपवृ हितपराश्रमस्य निन्देव । ‘क्षितिर्गिय तव’ इति
लक्षणाभ्यातचक्रवर्तिपदस्य पुनस्त्वमिव । ‘गृह्यता श्री’ इति
स्वयमेव श्रिया परिगृहीतस्य विपरीतमिव । ‘अध्यास्यतामय
लोक’ इत्युभयलोकात्रिजिगीषोः पुष्पलमिव । ‘स्वीक्रियता
कोश’ इति शक्तिकरनिकरनिर्मलयश सचयकाभिनिवेशिनो
निष्पयोगमिव । ‘आत्मीक्रियता राजकम्’ इति गुणगणात्मी-
कृतजगतो गतार्थमिव । उह्यता राज्यभार’ इति भुवनत्रय-
भारवहनोचितस्यानुचितनियोग इव । ‘प्रजा परिरक्ष्यन्ताम्’
इति दीर्घदोर्दण्डागतिनद्रिटमुत्स्यमानुवाद इव । ‘परिजन
परिपाल्यताम्’ इति लोकपालोपमस्यानुपङ्गकमिव । ‘मातन्त्येन
शस्त्राभ्याम कार्यं’ इति धनुर्गुणविष्णुकवङ्कुवालीकृतप्रकोष्ठस्य
किमादिश्यते । ‘निगृह्यता चापलजानम्’ इति नूतनतरवयसि
निगृहीतेन्द्रियस्य निरवकाशेव मे वाणी । “निरवशेषता शत्रवो
नेमा’ इति महजस्य तेजस एवेय चिन्ता ।” इत्येव वदन्नेवापुन-
रन्मीलनाय निमिमील राजामिहो लोचने ।

अग्निन्नेवान्तरे पूपाप्यागुपेव तेजसा व्ययुज्यत । ततश्च
तज्जमान इव नरपतिजीवितापरिणजनितादात्मापराधादघो-
मुस ममभदन् । भूपालाभावशोकक्षिन्नेवान्तन्नाप्यमान-
स्ताम्रता प्रपेदे । मन्द मन्दमप्रियप्रदनाथमिव नापिकी स्थिति-

मनुवर्तमानोऽवातरद्विव । दिःसुरिव जनेशाय जलाञ्जलिमपर-
जलनिधिसमीपमुपससर्प । सद्योदत्तजलाञ्जलिर्दुःखदहनदग्धमिव
करसहस्रमालोहितमाधत्त ।

—वाणभट्टः (हर्षचरितम् ५)

१३—अहो प्रभावस्तपसाम् !

अनतिदूरमिव गत्वा दिशि सदा सन्निहितकुसुमफलैरारण्य-
स्थलीभिस्त्वशोभितप्रान्तम्, आगृहीतसमित्कुशकुसुममृद्भिरध्य-
यनमुखरशिष्यानुगतैः सर्वतः प्रविशद्भिर्मुनिभिरशून्योपकण्ठम्,
अनवरतश्रवणगृहीतवपट्कारवाचालशुककुलम्, अनेकसारिकोद्-
घृष्यमाणसुब्रह्मण्यम्, अरण्यकुवकुटोपभुज्यमानवैश्वदेववलि-
पिण्डम्, परिचितशाखाभृगकराकृष्टिनिष्कास्यमानप्रवेश्यमान-
जरदन्धतापसम्, इभकलभकार्षोपभुक्तपतितैः सरस्वतीभुजलता-
विगलितैः शङ्खवलर्यैरिव मृणालशकलैः कल्मापितम्, ऋषि-
जनाथमेणकैर्विषाणशिखरोत्खन्यमानविविधकन्दमूलम्, अम्बु-
पूर्णपुष्करपुटैर्वेनकरिभिरापर्यमाणविटपालवालकम्, उपजात-
परिचर्यैः कलापिभिः पक्षपुटपवनसंघुक्ष्यमाणमुनिहोमहुताशनम्,
सुराभिविलेपनधरमपि सतताभिर्भूतहव्यधूमगन्धम्, मातङ्गकुला-
ध्यासितमपि पवित्रम्, उल्लसितधूमकेतुशतमपि प्रशान्तोपद्रवम्,
परिपूर्णद्विजपतिमण्डलमनाथमपि सदा सन्निहिततरुगहनान्व-
कारम्, अतिरमणीयम्, अपरमिव ब्रह्मलोकम् आश्रम-
मप्यम् ।

यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु, मुखराग शुकेषु न कोपेषु, तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनसु, चक्षूराग कोकिलेषु न परकलत्रेषु, मेखलावन्धो व्रतेषु नेप्याकलहेषु, स्ननस्पर्शा होमधेनुषु न कामिनीषु, पक्षपात कृकवाकुषु न विद्याविवादेषु, भ्रान्तिरनलप्रदक्षिणामु न शाम्ब्रेषु, वसुसङ्कीर्तन दिव्यकयामु न तृष्णामु, गणनान्द्राक्षवलयेषु न शरीरेषु, मुहिवालनाश क्रन्दुदीक्षया न मृत्युना, रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन, मुखभङ्गविकारो जरया न घनाभिमानेन । यत्र च महाभारते शकुनिवध, पुराणे वायुप्रलपितम्, वय परिणामेन द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीना भूमिभ्रमम्, ण्णकाना शीतश्रवणव्यमनम्, शिखण्डिना नृत्यपक्षपात, भुजङ्गमाना भोग, कपीना श्रीफलाभिलाष, मूलानामधोगति ।

तत्र च तापमकुमारिकाभिरालवादत्तपीतपिष्टिपञ्चाङ्गुलस्य परिमण्डलतया विस्तीर्णावकाशस्य रक्ताशोक्तरोरघट्टायायामुपविष्टम्, नमन्तान्महर्षिभिः परिवृतम्, स्थैर्येणाचलाना गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा भवितुं प्रशमेन तुषाररश्मेनिर्मलनयाम्बरतलम्य सविभागमिव कुर्वाणम्, धनतेयमिव स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यम्, कमलामनमिवाश्रयगुरुम्, जरच्चन्दनतटमिव भुजङ्गनिर्भोक्त्रघवलजटाकुलम्, प्रशान्तवाग्णपतिमिव प्रलम्बकर्णपालम्, बृहस्पतिमिवाजन्ममवधितकचम्, दिवममिषीद्यदकंविम्बभास्वरमुखम्, शरत्कालमिव क्षीणवर्षम्, शन्ननुमिन्न प्रियमत्यव्रतम्, अम्बिकाकर्तलमिव रद्राक्षवलयग्रहणनिपुणम्, शिशिरनमयभूर्यमिव कृतोत्तरानन्दम्, ब्रह्मानलमिव सन्ततपयोमक्षम्, दून्यनगरमिव दीनाभायविपन्नशरणम्, पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरम्, भगवन्त जायालिमपश्यम् ।

अवलोक्य चाहमचिन्तयम् — 'अहो प्रभावस्तपसाम् ! इयमस्य शान्तापि मूर्तिरुत्पत्कनकावदाता परिस्फुरन्ती सौदामिनीव चक्षुषः प्रतिहन्ति तेजांसि, सनतमुदामीनापि महाप्रभावतया भयमिवोपजनयति प्रथमोपगतस्य । पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम्, किं पुनर्दर्शनानि । धन्यमिदमाश्रमपदमयमधिपतिर्यत्र । वहलाज्यधूमपटलमलिनीकृताश्रमस्य भगवतः प्रभावाद्भूतमिव रविकिरणजालमपि दूरतः परिहरति तपोवनम् । एते च पवनलोलपुञ्जीकृतशिखाकलापा रचिताञ्जलय इवात्र मन्त्रपूतानि हवीपि गृह्णन्त्येतत्प्रीत्याशुशुक्षणयः । तरलितदुकूलवल्कलोऽयं चाश्रमलताकूसुमसुरभिपरिमलो मन्दमन्दचारी सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः । प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि । सर्वतेजस्विनामयं चाग्रणीः ।

'एष प्रवाहः करुणारसस्य, सन्तरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमःम्भसाम्, परशुस्तृष्णालतागहनस्य, सागरःसन्तोषामृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमागंस्य, अस्तगिरिरसद्रहस्य मूलमुपशमतरोः, नाभिः प्रनाचक्रस्य, स्थितिवंशो धर्मध्वजस्य, तीर्थं सर्वविद्यावताराणाम्, वडवानलो लोभार्णवस्य, निकपोषलः शास्त्ररत्नानाम्, दावानलो रागपल्लवस्य, मन्त्रः क्रोधभुजङ्गस्य, दिवलकरो मोहान्धकारस्य, अर्गलावन्धो नरकद्वाराणाम्, कुलभुवनमाचारणाम्, आयतनं मङ्गलानाम्, अभूमिर्मदविकाराणाम्, दर्शकः सत्पथानाम्, उत्पत्तिः साधुतायाः, नेमिरत्साहचक्रस्य, आश्रयः सत्त्वस्य, प्रतिपक्षः कलिकालस्य, कोशस्तपसः, सखा सत्यस्य, क्षेत्रमार्जवस्य, प्रभवः पुण्यसंचयस्य, अदत्तावकाशो मत्सरस्य, अरातिविपत्तेः, अस्थानं परिभूतेः, अननुकूलोऽभिमानस्य, असम्मतो दैन्यस्य, अनायत्तो रोपस्य, अनभिमुखः सुखानाम् ।

'अस्य भगवतःप्रसादादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं तपोवनम् ।

अहो प्रभावो महात्मनाम् । अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुप-
 शान्तात्मानस्ति यञ्चोऽपि तपोवनवसतिमुखमनुभवन्ति । तथा
 हि एष विरञ्चोत्पलवनरचनानुकारिणमुत्पतच्चार्चन्द्रकशत
 हारणलोचनद्युतिशबलमभिनवशाद्वलमिव विशति शिक्षिन.
 कलापमानपाहतो नि शङ्कमहि । अयमुत्सृज्य मातरमजातकेमरै
 केसरिशिशुभि महोपजातपरिचय क्षरत्क्षोरधार पिवति कुरङ्ग-
 शावक सिंहीस्तनम् । एष मृणालकलापाण्ड्विभि शशिकरघवल
 सटाभारमामीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरद्वलभैराकृप्यमाण
 मृगपति । इदमिह कपिकुलमपगतचापलमुपनयति मुनिकुमार-
 केभ्य स्नातेभ्य फनानि । एते च न निवार्यन्ति मदान्धा अपि
 गण्डस्थलीभाञ्जि मदजलपाननिश्चलानि मधुकरकुलानि
 सञ्जातदया कण्ठालं कर्णिण । किं बहुना, तापसाग्निहोत्रधूम-
 लेखाभिस्त्वपन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तगमद्गशोभा
 फलमूलभृतो बल्कलिनी निश्चेतनास्तरयोऽपि मनियमा इव
 लक्ष्यन्तेऽस्य भगवत । किं पुन सचेतना प्राणिन' इति ।

—वागमट्ट (कादम्बरी)

१४—अतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्

निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छ्रयमप्रदीपप्रभापनेय-
मतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् । गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्व-
मप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीय खल्वनर्थपरम्परा ।
सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतन किमुत समवायः । यौवनारम्भे
च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः ।
अनुज्झितधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टिः । अपहरति च
वात्येव शुष्कपत्र समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवन-
समये पुरुषं प्रकृतिः । इन्द्रियहरिणहारिणी च सततमतिदुरन्तेय-
मुपभोगमृगतृष्णिका । नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव
तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति
मनसः । नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्तकः पुरुषमत्यासङ्गो
विषयेषु । गुणवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवण-
स्थित शूलमभव्यस्य ।

अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो
विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः । गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिल-
मलप्रक्षालनक्षममजल स्नानम्, अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं
वृद्धत्वम्, अनारोपितमेदोदोषं गुरुकरणम्, असुवर्णविरचनमग्राभ्य
कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः । विशेषेण
तु राज्ञाम् । विरला हि तेषामुपदेष्टारः । अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छा-
न्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः । अलीकाभिमानोन्माद-
कारीणि घनानि । राज्यविषविकारतन्द्राप्रदा राजलक्ष्मीः ।

आलोकयतु तावत्कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम् ।
न ह्येवविधमपरमपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति यथेयमनार्या ।
लब्धापि खलु दुःखेन परिपाल्यते । दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दी-
कृतापि नश्यति । न परिचयं रक्षति । नाभिजनमीक्षते । न वैदग्ध्यं

गणयन्ति । न न्यागमाद्रियते । न विशेषज्ञना विचारयति । कमलिनी-
सचरणव्यतिकरलम्बननिननालकण्ठकेव न क्वचिन्निर्भरमाव-
घ्नाति पदम् । यथा यथा चेष चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिवेव
कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्धमति । न हि त पश्यामि यो
ह्यपरिचितयानया न निर्भरमुपगूढो यो वा न विप्रलब्ध । नियत-
मियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तकमय्यपीन्द्रजालमाचरति,
उन्कीर्णापि विप्रलभते श्रुताप्यसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति ।

एवविधयापि चानया दुराचार्या कथमपि दैववशेन परि-
गृहीता विकलवा भवन्ति राजान, सर्वाविनयाधिष्ठानता च
गच्छन्ति । तेषा दाक्षिण्य प्रक्षान्यते, हृदय मलिनीभवति,
मत्यवादिनापह्लियते गुणाश्चोन्मार्यन्ते । केचिच्छमवशशिथिल-
शकनिगलपुटचपलाभि गद्योत्तमेपमुहूर्तमनोहराभिर्मनस्विजन-
गर्हिताभि सम्पद्भि प्रलोभ्यमाना रागावेशेन बाध्यमाना
विह्वलतामुपयान्ति । आसन्नमृत्यव इव वन्द्युजनमपि नाभि-
जानन्ति । अदूरदर्शन पापेनेवाध्मातमूर्तयो भवन्ति । तद-
वस्याश्च व्यसनजनमह्यतामुपगता वतमीकतृणाग्रावस्थिता
जलविन्दव इव पतिन्नुस्र्यास्मान नावगच्छन्ति ।

अपरे, तु स्वार्थनिष्पादनपरैरेनपि गितग्रामगृधैरास्थान-
नलिनीवकैर्द्यूत विनोद इति, पान विलास इति, प्रमत्तता शौर्य-
मिति, गुर्वचनावधीर्णमपगप्रणयत्वमिति, स्वच्छन्दता प्रभुत्व-
मिति, तरलनोत्साहमिति दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भि-
रन्त स्वयमपि विहसद्भि, प्रतारणकुशलैर्धूर्तैरमानुषोचिताभि
स्तुतिभि प्रतार्यमाणा प्रारब्धदिशोचिनचेष्टानुभावा सर्व-
जनन्योपहास्यनामुपयान्ति । दर्शनप्रदानमप्यनुग्रह गणयन्ति ।
दृष्टिपानमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति । स्पर्शमपि पावनमाकल-
यन्ति । मिथ्यामाहान्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्य,

नाभिवादयन्त्यभिवादनाहान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून् ।
जरावैकल्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम् । आत्मप्रज्ञा-
परिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय । कुप्यन्ति हितवादिने । सर्वथा
तमभिनन्दन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्धयन्ति, तं बहु मन्यन्ते,
तमाप्ततामापादयन्ति योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधि-
दैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्गावयति ।

तदेवंप्राये राज्यतन्त्रेऽस्मिन्महामोहकारिणि च यौवने कुमार
तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न
प्रतार्यसे विटैः, नावलुप्यसे सेवकवृक्कैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः,
नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे रागेण,
नापह्नियसे सुखेन । तरलहृदयमप्रतिबुद्धं च मदयन्ति धनानि ।
विद्वान्ममपि धीरमप्यभिजातमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खली-
करोति लक्ष्मीः । कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरुढां धुरम् ।
अवनमय द्विपतां शिरांसि । उन्नमय स्वदन्धुवर्गम् ।

—वाणभट्टः (कादम्बरी)

१५.—प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वै धर्मः

स भगवान् सृष्ट्वेद जगत्, तस्य च स्थितिं चिकीर्षमरीच्या-
दीनग्रं सृष्ट्वा, प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् । ततो-
ऽन्यांश्च सनकमनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिधर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं
ग्राहयामास । द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्ति-
लक्षणश्च । तर्धको जगत् स्थितिकारणं प्राणिना माक्षादभ्यु-
दयनि श्रेयसहृत्य स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयो-
र्द्धभिर्नुष्ठीयमानो दीर्घेण कालेनानुष्ठातृणां कामोद्भवादीय-
मानविवेकविज्ञानहेतुकेनाऽधर्मेणाभिभूयमाने धर्मो, प्रवर्धमाने
चाऽधर्मो, जगत् स्थितं परिपालयितुं स आदिकर्ता नारायणा-
ख्यो विष्णुभौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्या
वसुदेवादशेन कृष्णं किल सम्बभूव । ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन
रक्षितं स्याद्वैदिको धर्मः, तदधीन-वाङ्मनाश्रमभेदानाम् ।

स च भगवान् ज्ञानेश्वयशक्तिवलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्न-
स्त्रिगुणात्मिका वैष्णवी स्यात् माया मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजो-
ऽव्यया भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त्वा स्वभावोऽपि सन् स्व-
मायया दहन्निव जात इव लोकानुग्रहं कृत्वा नश्यते । स्वप्रयाजना-
भावेऽपि भूतानुजघृक्षया वैदिक धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोह-
महोदधौ निमग्नयोपाशदेश, गुणाधिकं हि गृहीताऽनुष्ठीयमानश्च
धर्मं प्रचय गमिष्यतीति । तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्याम-
सर्वज्ञो भगवान् गीतास्यै मत्तमि श्लोकवर्तैरपनिवबन्ध ।

निश्चेयस च सर्वकर्ममन्यागपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठाऽपा-
द्धमाद् भवति । तथेममेव गीतार्थधर्ममुद्दिश्य भगवतैवोक्तम्—
'म हि धर्मं सुपर्याप्तो ब्रह्मण पदवेदनम्' इत्यनुगीतासु । किं
चान्यदपि तत्रैवोक्तम्—'नैव धर्मो न चाऽधर्मो न चैव हि शुभा-

शुभो, यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्' इति; 'ज्ञानं संन्यासलक्षणम्' इति च । इहाऽपि चान्त उक्तमर्जुनाय— 'नर्वधमान् परित्यज्य मामेकं व्रज' इति ।

अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णाश्रमाश्चोद्दिश्य अवहितः स च देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि मन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिर्वाजितः । शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते । यथा चेममर्थमभिमन्धाय वक्ष्यति— 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि यतचित्ता जितेन्द्रियाः । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ।'

—शंकराचार्यः (गीताभाष्योपक्रमणिका)

१६—पितृवत् परकन्यासु

वेधा द्वेषा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।

तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भूर्गो नराकृतिः ॥

तोरणदुर्गे तु रसनारी काभिश्चन मूर्च्छितप्रायाभिरुत्थाप्य समानीताभिः पुनः प्राप्तसंजाभिः चेटीभिः महिता, मञ्चानन्दी-पत्यङ्कवितानतूलिकोपवर्हादिसकलपरिच्छदपरिष्कृतायाम् अति-रम्यहर्म्याट्टालिकायामवरुद्धा—'क्वाऽऽयाता ? केन संयता ? किं भावि ?' इति किमपि न वेत्ति स्म । तत्परिचयायामितरा

महाराष्ट्रदेशीया अपि दास्य आसन्, किन्तु ता अपि रमनार्या वहुश प्रलोभिता अपि सप्रथय पृष्ठा अपि तेषु तेषु विषयेषु वाच-
मेव न यच्छन्ति स्म ।

‘क एवमाद्रियते ? कस्य कक्षे आपतिता ? कोऽधुनापि मर्यादा न भनक्ति ?’ इति तथा किमपि ज्ञातुं न शक्यते स्म ।

अथैकदाऽट्टालिकाया पर्यटन्त्या, दक्षिणस्या सुदूर विस्तृताना काननानाम्, अभ्रालिहाना शैलशिखराणाम्, कपोतानाम्, क्रीञ्चानाम्, कुरराणा च शोभा पश्यन्त्या अकस्मादश्रावि पादध्वनिनिर्वव वहूनाम् । झटिति तत आगत्य द्वारोपरिस्थगवा-
क्षाञ्चाऽऽलोकितवती यदेक ईपच्छ्यामल सुन्दरो मरकतमणि-
महामालालसितगलकमनीयो युवाऽऽगच्छतीति । एष एव च सम्बोर्भोति पातवृद्धोऽस्मत्लुण्ठकगणस्थेति मन्यमाना, किञ्चिद्-
भीतिव, स्तब्धेव, खिन्नेव, क्षुभितेव, उद्विग्नेव च सा समवित्त ।

अथ रमनारी स्वोपवेशदेश प्रविश्य स्विन्ना गण्डस्थली यावत्पटान्तेन परिमार्ष्टि, तावत्प्रतिसीरामुत्क्षिप्य झटिति प्रविश्य शिरोनमनपुर मरमादराचार विदधदवलोकित स एव वीरवर । इय तमादराङ्गत् , तद्वचनसुधाधारापिपासिताभ्यामिव कर्णाभ्या परमकतानताजडावृताभ्यामिव नयनाभ्या चित्रापितेवाभूत् । महाराष्ट्रराजस्तु वद्वकर्मम्पुट मभवत्तत । न च विन्दुमपि विसर्गमाप चाब्रूत् । तत पराधीना-तदाकारमोजन्वलावण्य-
गाम्भीर्यादिराचागद्वलोकनमोहिता रसनारी स्वयमेवारभ्य एवमालपत् ।

रमनारी—जागम्यनामियमासन्दी सनाथ्यताम् ।

शिवराज — यदाज्ञाप्यतेऽत्रभवत्या ।

[इत्येकस्यामासन्ता महाराष्ट्रराज , अपरस्या रसनारी, साद्वहस्तो-
च्छायाया कौशेयवसनाच्छनाया सजलकुमुमस्तवकीलङ्कृतमध्याया-

वर्तुलपीठिकायाः प्राक् प्रत्यक् चोपाविलताम् ।]

रसनारी—वीर, अतिसमादृताऽपि सुखं स्थापिताऽपि दुःखिताऽस्मितमाम्, यतो यत्नैरपि न ज्ञातुमशकं निजधन्यवाद-भाजन धन्यधन्य कमपि मान्यवदान्यम्; यत्प्रदत्तं द्राक्षादाडिम-जातमास्वादमास्वाद केकिकेकाकोकिलकूजितानि श्रावं श्रावं दर्श दर्श चोत्पकाशाद्वलेषु शम्बरशल्लकीशशकशिवापलायनानि दिनानि गमयामि ।

शिवराजः—आर्ये, अपि कस्यापि महाराष्ट्रवीरस्य शिव-राज इति नामधेय श्रीमत्या. कर्णशङ्कुलीमस्पर्क्षीत् ?

रसनारी (क्षणं चिन्तयित्वा)—किं पार्वतोन्दुरुः शिव इति ?

शिवराजः ('दिल्लीकलङ्का वराका एते मां पार्वन्तोन्दुरु-मेवाऽऽहयान्ति' इति स्वगतमेव दिव्यार्थं किञ्चिद् ह्रीण इव पुन-रुन्मतीभूय) —भद्रे, महाराष्ट्रराजः शिववीरः ।

रसनारी (समोऽध्यन्) —तत्किं पार्वतोन्दुरुः कोऽप्यन्यः ?

शिवराजः—अत्रभवती न वेत्ति मर्मनस्य । अस्माकं सदैव युद्धानि भवन्ति श्रीमत्यास्तातचरणैः सह । वयं सदैव तान् विजयामहे । तदीयानि कदर्याणि आचरणान्यवलोक्य च 'दिल्लीकलङ्का इमे' इति कथयाम. । ते च दग्धहृदया अस्मान् 'पार्वतोन्दुरुन्' प्रचक्षते, परन्तु यथा तव तातस्तत्र राजा, तथा शिववीरोऽत्र राजा । तव तातस्य प्रजासु तु, तेषां दारा अपह्नियन्ते, येषां देवमन्दिराणि निपात्यन्ते, येषां च तीर्थस्थानानि बला-द्विलोप्यन्ते, ते प्रतिप्रभातं प्रतिसार्य च वाप्पवारिविन्दुसन्दोहै-राननं क्षालयन्तः, दग्धहृदयाः, धमद्वमद्वमनीघावमानरुधिरधारा-दुर्धर्षवदनाः, हस्तावुन्नमय्य तव तातस्योच्छेदाय शपन्ते । शिव-

राज-राज्ये तु प्रजा प्रतिक्षणमाशीरशीनुच्चाग्यन्ति । त्वत्पितृ-
राज्य वहिरेव, न तु प्रजानामन्त कर्णे । शिवस्य तु राज्य
महाराष्ट्रदेशीयप्रजानामन्तर्वहिद्वच ।

रमनारी (सलज्जम्)—तत किं शिवराज्ये यवना अपि
मोदन्ते ?

शिवराज —मर्धामा प्रजाना समान एव मोद , न भवति
शामनकाले जानितामाच्छुद्धनभावश्यकम् ।

रमनारी—तत किमित्यहमण्हारिताऽस्मि ?

शिवराज —मा स्म भूच्छ्रीमत्या काचन यलात्कारभीति ।
बहुभी रुधिरप्रवाहैर्भगवती विश्वम्भग स्नापिता, बहवश्च
युद्धाहतवीररमण्यो गोदिता , इति यदि भवतीमाश्रित्य भवत्या
पित्रा सह मन्धातु शक्येत, तद्यत्नार्थं नमानीता मङ्गल-
मय्यत्र भवति । नैतद् मीद्गलराज्यम्, यत्र प्रजानामपि भवेद्
वनात्कारमाध्वमम् । अत्र तु महाराष्ट्राणां राज्यम्, यत्र पणि-
पन्थिनामपि युवजनमनोमोहनेनातिमधुरेण वीमागत् परेण
वयमाऽऽलिङ्गिता अपि सौन्दर्यमार्गविरचिता इवापि दुहितर
सम्मन्यन्ते, न त्ववहेत्यन्ते । अत्र भवत्येवात्र प्रमाणम् ।

रमनारी(तवाकर्ष्यं शिरो नमयित्वा, अपाङ्गक्षिप्तलोलतार-
लोचनेन शिवमुखमसकृदीक्षमाणा, उरोजयो स्त्रसदिध वस्त्र पुन
कन्धयो क्षिपत्वा)—अथ क्वामौ महाराष्ट्रराजो मोदितमकल-
नमाजो रणधीर शिववीर ? त दिदक्षन एष जन ।

शिवराज (समुत्थाय)—एषोऽत्र भवत्या सम्मुख एव
बद्धकरसम्पुट उपतिष्ठते शिव । तदाज्ञाप्यता काचन मेवा ।

रमनारी (सैसम्भ्रममुत्थाय)—आ ! एवमेतन् ? अपि
श्रीमानेव महाराष्ट्रराज , यो मामेव धृष्टवादिनी मनोरमै-

नंम्रालापैर्लज्जयते ? उपविश्यतामुपविश्यताम् ! मनसाऽप्यकल्पनीयोऽयमीदृशः स्वभावः, यत् सपत्न्योऽप्यादरेष्वेव सयत्नो भवान् ।

ततः परमृपविष्टयोर्मुहूर्तं यावद् बहव आलापाभ्यस्तयोः परस्परं चकितयोर्मुदितयोरनुरक्तयोश्चाभूवन् ।

—अम्बिकादत्तव्यासः (शिवराजविजयः)

१७—वृक्षाणां परिषत्

वृक्षाणां परिषदियम् । अत्राश्वत्थो वक्ताऽपरे श्रोतारः । निरन्तरमहवामाद्वयमेतेषां भाषासु सम्यग्भिजा एव । तद् यदि भवद्भ्यो रोचेत त्रयमेतेषां प्रजल्पनमनुब्रुवामः ।

सञ्चालितपल्लवकराग्रः सुमहानश्वत्थो वदति—भो भो वनस्पतिकुलप्रदीपा महापादपाः, कुसुमकोमलदन्तश्चो लताकुलललनाञ्च, सावहिताः शृण्वन्तु भवन्तः । अद्य मानववार्ते-वास्मत्समालोच्यविषयः । मानवा नाम सर्वासु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टिः । समन्तादभिनवोत्तरविलक्षणसृष्टिमुत्पादयता भगवता जगत्सवित्रा यादृग् बुद्धिप्रकर्षः सृष्टिनैपुण्यं च

प्रदर्शितम्, मानवमर्गं विदधता पुनरनेन तत्सर्वमेकपद एवाप-
हार्गितम् ।

प्राक्कनकमप्रभावाज्जडत्वमापन्नानामस्माकं वार्ता ताव-
दस्तु दूरे, जीवसृष्टिप्रवाहेषु मानवा इव परप्रतारका स्वार्थ-
साधनपरा मायाविन कपटव्यवहारकुशला हिंसानिरता जीवा
न दिद्यन्ते (सर्वे स्वशाखाघर्षणं कृत्वा आनन्दं सूचयन्ति) ।
भवन्तो नित्यमेवारण्यचारिणः सिंहव्याघ्रप्रमुखान् हिंस-
स्वभावतया प्रसिद्धान् श्वापदानवलोकयन्ति प्रत्यक्षम्, तेषां
नित्यनैमित्तिकद्रियाकलापांश्च पश्यन्ति, ततो भवन्त एव
सानुनयं पृच्छन्ते—कथयन्तु भवन्त याथानर्थेन किमेते हिमादि-
द्रियासु मनुष्येभ्यो भृशं गरिष्ठा ? श्वापदानां हिंसाकर्म किल
प्रवृत्तानयमोद्दीप्तजठरानलनिर्वाणमात्रप्रयोजनकम्, क्रूरचेष्टि-
तानि च स्वोदरपूर्तिपर्यन्तावमानानि । प्रशान्ते तु जठरानले
मृदुपजानाया स्वोदरपूर्ता नहि ते करतलगतानपि हरिण-
शशादीनुपघ्नन्ति, न वा तथाविधदुर्बलजीवघातार्थमटवीतोऽटवी-
ममुद्धत पारभ्रमन्ति, प्रन्युन मुनिव्रता इव शान्तभावमापन्ना
निश्चेष्टा विविक्तविजनप्रदशमाश्रित्य विश्राम्यन्ति ।

मनुष्याणां हिमावृत्तिस्तु निर्वधिः । पशुहत्या तु तेषामा-
श्रीटनम्, येषु च विष्वान्निचित्तविनोदाय महारण्यमुपगम्य ते
यथेच्छं निर्दयं च पशुघातं कुर्वन्ति । मनुष्या यथा मृगयामपदिश्यं
हिमावृत्तेश्चरिताथना मम्पादयन्ति, हिंस्रस्वभावा अपि श्वापदा-
विं कदाचित् मनुष्यालयमार्वावश्यं तादृशमतिदाम्णं कर्म समनु-
निष्ठन्ति ? (सर्वेषां करतलघोषम्) । यथैहिकमुखलिप्सया
मनुष्या ममुत्साहेन जीवाहिमा मम्पाद्यान्तं करणम्यानिनिष्ठुर

क्रूरभावं प्रकटयन्ति, पारत्रिकविशुद्धनित्यसुखप्राप्त्याशयापि ते तथैव महोत्साहेन महोत्सवपूर्वकं स्वाभीष्टदेवताग्रतः सर्वथानिरपराधान् रोष्यमानानासन्नमृत्युशङ्कावेपमानकलेवरान् पशून् वलादुपहृत्य स्वहृदयस्यातिकर्कशनृशंसतायाः परिचयं ददति । वस्तुतस्तेषां पशूपहारव्यापारमालोक्य जडानामप्यस्माकं विदीर्यते खलु हृदयम् ।

पशूनां न केवलं भक्ष्यनियमस्तृप्तिश्च तेषामनायाससाध्या, ते स्वोदरपूर्तिमात्रपर्याप्त भक्ष्यवस्तु समधिगत्यैव परमां परितृप्तिं लभन्ते, नाधिकमाकाङ्क्षन्ति । भक्ष्यवस्तुनीवान्यत्र विषयेष्वपि सुलभः खल्वमीषां तृप्तियोगो यस्तावन्मानवेषु मुदुर्लभ एव । तृप्तिलाभस्तु न विलिखितो विघात्रा मनुष्यभाग-वेयेषु । निरन्तरमात्मोन्नतिमभिविधित्सवोऽव्याहतलोभविक्षो-भितहृदया मनुजन्मानः किल प्रतिक्षणं स्वार्थसाधनाय सर्वात्मना प्रवर्तन्ते, न धर्ममनुधावन्ति, न सत्यमनुवदन्ति, पर तृणवदुपेक्षन्ते स्नेहम्, लोष्टवत् परित्यजन्ति शौचम्, अहितमिव परिहरन्त्या-र्जवम्, अमङ्गलमिवोपघ्नन्ति विश्वासम्, न स्वत्वमपि विभ्यति पापाचारेभ्यः, न किञ्चिदपि लज्जन्ते मुहुरनृतव्यवहारात्, न हि क्षणमपि विरमन्ति परपीडनात्, न वा कदापि विमुखीभवन्ति महतोऽपकृत्यात्, केवलं सिंसाधयिषन्ति स्वार्थम् । यथायथैव स्वार्थसिद्धिर्घटते तथातथैव परिवर्धतेऽमीषां गरीयसी विषय-पिपासा ।

न केवलमेते पशुभ्यो निकृष्टास्तृणेभ्याऽपि निस्सारा एव । तृणानि खलु प्रबलवात्योद्गमाव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तं न किञ्चि-न्माद्यं विचलन्ति, न वा स्वल्पमात्रमपि विकम्पन्ते, किन्तु निर्भी-

कानीवाविशङ्कितचित्तानीव सर्वथा मुश्चिगण्यवनिष्ठन्ते, किं च वात्यया मह स्वशक्तिन मुचिर्मभियुध्य मम्मुखसमरप्रवर्तमाना वीरपुस्या इव शक्तिक्षये क्षितितले निपतन्ति, न तु कदाचित् कापुस्या इव स्वस्थानमपहाय द्रुत प्रपन्नायते । मनुष्या पुन स्वचेतमाऽग्रत एव मुद्गरभविष्यत्कालमङ्घ्रित्यमाण कर्मणि विपत्पानमात्रलक्ष्य परिक्लम्पमानस्तेवरा भीतभीता निरन्तरगुरुचिन्तादान्तहृदया दुःखदुःखेन समयमतिवाहयन्ति, परिक्लम्पयन्ति च पर्याकुला यद्वायामैवदृष्टविधान् पतोकारोपायान् । येन मनुष्यजीवने शांतिमुख मनोरथपथार्द्रतक्रान्तमेव । जय भक्तिव्यताया अवश्यम्भावितया दुर्लङ्घ्यतया च नियतिनियमाना तेषा सर्वप्रतीकारप्रयत्नान् विफलीकृत्य यदि कदाचित् समापतति तावत् तथाकथिताऽपत् तदा तेषामेवपद एवान्तर्यत्ते विद्यावत्ताभिमान, स्वर्गीभवति नीक्षणदुर्दिनपुण्यप्रभवो गर्व, प्रलीयते च परिक्लिप्तात्ममवज्ञतागमुदित मुमहानदङ्कार । ततश्च ममुदेति मद्य एव कोऽपि विकर्तव्यविमूढभावजनितो हृदयावसाद, भृगु परिशीयते चिरपोषिता नास्तिस्त्रबुद्धि मुद्गरमपाच्छति च मा परमेश्वरप्रतिद्वन्द्विता, येन ते तदानीमात्मत्राणाय वद्वाञ्जलय साधुनयना प्रणमन्त वर्ण विलपन्तश्च शरण ममुपयान्ति जगच्छरण्य जगदीश्वरम्, ममुपामते च श्रद्धया निराकारग्न्याप्यस्य बहुविधा परिक्लिप्ता मूर्ति । परिक्ल्यजति च सर्वविधामात्मभगताम् । भवन्ति च तथाविधावसरे अवश्यरक्षितव्यान पुत्रकलत्रादिस्वजनान् विहाय 'आत्मान मत्त रक्षेद्दार्द्रपि धनैरपि' इति नीतिमनुमरन्त जात्ममात्रपरिनाणपरायणा । किमन परममीषाममागताप्रतिपादने प्रमाणान्नरापेक्षा वर्तते । अथ ये तावत्तृणैर्भ्योऽप्यमारा पशुभ्योऽपि निकृष्टतरास्तृणादिमृष्टेरन्नर तथाविधजीवनिर्माण विश्वविधातु कीदृश नाम बुद्धिमत्ताप्ररूपं प्रकटयति ? (सर्वेषामुच्चहास्पम्)

इत्येवं हेतुप्रमाणपुरस्सर सुचिरं बहुविधं विशदं च व्याख्याय सभापतिरश्वत्थदेव उद्भिज्जपरिषदं विसर्जयामास । वयमपि तामश्वत्थव्याख्यातां मानवचरितस्यासारतां मुहुर्मुहुर्विभावयन्तो विस्मयमानमानसाः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः । यथा दृष्टं श्रुतं च निवेदितं प्रियपाठकेभ्यः ।

—हृषीकेशशास्त्री भट्टाचार्यः (प्रबन्धमञ्जरी).

१८—क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते

यथा यथाधिकायासः पुण्यवृद्धिस्तथा तथा ।

पुण्यं हि सात्त्विकं नूनमशक्यमपि साधयेत् ॥

अवमितप्रायो दिवसः ।

अस्ति निविष्टं मणिमयगिरिमेखलायाः किष्टिवाराख्य-
ग्रामस्य च मध्ये ववचिद्विविक्तस्थले कस्यचिद् ग्रामीणस्य
कुटीरमेकम् । प्रदोषेऽस्मिन् काचिद्रूपयौवनसम्पन्ना हिमानाम्नी
युवतिः सृष्टिसौन्दर्यमालोकयन्ती कुट्या वह्निश्चिनारनाम्नस्तरु-
विशेषस्यालवालं परितो रचितायां वेदिकायामुपविष्टासीत् ।
दरीदृश्यते तस्याः पुरः कुटिलः पन्था यः शालिक्षेत्रा-
दारभ्य कारवाहीगुल्मेष्वन्तर्हितस्तश्च पुनः सुदूरं दृष्टिगोचरो
भवति । नेदीयमः परःशतपादायतस्य गिरेरघस्तात्सुदूरं प्रसृतः
प्रचण्डो जलप्रवाहः प्रतिवध्नतःप्रस्तरान् शकलीकुर्वन् फेननिकरो-

द्गारभामुरो निज्ञंरज्ञंरनिनादेन दिगन्तमापूर्यन्निवामीत् ।
 आस्तामुभावपि पाश्वो पर्वतस्यावृतो नानाविधपुष्पितवन्य-
 गुत्मैर्नन्दनवनरमणीयताविडम्बिभि । अतिमनोहर हिमालयस्या-
 द्भुनमौन्दर्यं दर्शं दर्शं विस्मृत्यात्मान हिमा गाढ समाहितेव
 तस्यो ।

अथ यावत्तस्मिन् दीर्घे नि श्वमिति तावत्तस्या माता पृष्ठत
 समुपेत्य तारस्वरेण पप्रच्छ—‘हिमे, अयि किं चिन्तयसि वचन
 सर्वथा तस्य मूढमतेस्तापसस्य श्रीनगरनिवासिन ? निमित्त-
 जोऽयं धर्मकञ्चुकीति निश्चिनोमि ।’

हिमा—मात , किमिति वृथा तापममुपालभमे ?

वृद्धा—अपि तेन अनिश्चयं ज्ञापितानि तव पत्युरन्वुजस्य
 मकेनस्थानमुद्दिश्य । अन्वुजस्य वृत्तोपलब्धयै गतवत्यहं महं त्वया
 तत्प्रविधे, न पुनस्नद्धिचित्रमुखावलोकनाय । आ , वञ्चक
 एवासी । पिनापि तस्य त्रिणे वर्षे परिभ्रमणसक्तो भार्या
 मासजातापत्यं च विसृज्यामरनाथयान्नावद्वादरो गेहान्निर्गतो
 न पुनर्निवृत्त इति श्रुतमस्माभि । गेहिनी तस्यानवरतनयनाम्बु-
 धारा वर्षन्ती लोकानलेन प्लुष्टेव स्वर्गिणो ग्राहिताम्बुजनामक
 तदानीमेकाब्ददेशीय कस्मैचित् मुहूर्दे ममर्षं दिव गतवतीत्यपि
 मुविदिनमेव नो ।

हिमा—परं चिगात्तिरोहितस्य पितुरन्वेपणैर्दधिषा प्रस्थितो
 हिमाचनं प्रति तव जामाता, न तु विहारसुखोपभोगाय
 न वा पर्यटनासक्त्या ।

वृद्धा—प्रवृत्तिरीदृशी वरपरम्परागतास्तीति न सन्देह ।
 वत्से, वृद्धाया मे वचं शृणु तावत् । अतीतशतत्यादावा न यावच्छि-
 लायिते भवावस्तावदेव श्रीनगरं निवर्तिष्यावहे ।

हिमा (सविस्मयम्)—किम् ? इयद् दूरमागत्य निवर्ति-
ष्यावहे ? मातः, प्रोक्तमेव मयाऽमकृद्यन्न कोऽपि जगतीतले
मत्प्रतिज्ञां मिथ्याकर्तुं प्रभविष्यतीति । तस्मादल निषेधवचोभिः ।

वृद्धा (किञ्चित्कुपिता)—मूढासि त्वं यत्पराधीनेऽपि
विषये एवंविधा प्रतिज्ञा कृता त्वया । अतो गम्यनामेकाकिन्यैव ।
निवर्तिष्येऽहमितः श्रीनगरम् ।

× × ×

ततश्च पर्वतश्रेणीतः पर्वतश्रेणीम्, अटवीतोऽटवीम्,
शिखराग्राच्छिखराग्रम्, अधित्यकातोऽधित्यका समुल्लङ्घ्य
निर्भयं सनिश्चयं प्राचलत् प्रगल्भेयं तरुणी । पर्यन्ते
श्रीमदमरनाथगुहाया वहिःस्थाधित्यका दृष्टिगोचराऽभूत् ।
ततो यावत् पिसुनाम्नः शैलस्योत्सङ्गे स्मयमानशेषनागाख्य-
सरोवरमवलोकयन्त्यधित्यकां समुपैति सा, तावद् बृहदक्षोदृ-
द्रुमस्याधो ध्यायन्तं कञ्चित्तापसवृद्धं व्यलोकयद्विमा । प्रदोष-
स्यैधमानान्धकारे निष्प्रभनीललोहितपर्वतच्छायाभिर्घनीभूते स
प्रवया जीर्णपर्णमिव बलितपीतवर्णास्य आनाभिविलम्बमानसित-
सान्द्रकूर्चो भस्मधूलिरूपितजटाजूटकोऽशिथिलाकुञ्चितगात्रो
दाक्षिण्याङ्कितललाटो भद्रतयेव स्नातशरीरो भ्रूमध्यस्थापिता-
चलदृष्टिः शताधिकवर्षदेशीयः पुरातनकालप्रतीक इव समुदलसत् ।

हिमायाः पदन्यासशब्दमाकर्णयितद्योतमानं नयनयुग्म-
मुन्मील्यान्वयुङ्क्त तां—'वत्से, कुतः प्रतिपन्नं त्वयेदमति-
क्लेशकरं प्रयाणम् ?' इत्यनुयुक्तया युवत्या तस्य तेजस्विमुख-
मण्डलं निपुणं निरीक्ष्यमाणया श्रीनगरकृतावासस्य तापसस्य
सन्देशो निवेदितस्तस्मै । निःशब्दं रुदित्वा जनैः जनैः स्वलिता-

क्षरं स्वोयमितिवृत्त तस्मै न्यवेदयत्—चिरादन्नाहिनस्य भर्तु-
 वानाम्, तद्वियोगवदनाजन्य दुःखम्, निज पर्यटनाभिपङ्ग च ।
 योगोन्द्रोऽभिनन्द्य तत्सकल्पम्, इङ्गितेन समीपवतिनी निम्न-
 पटला निजकुटी तस्यै निर्दिष्टवान् । सब्रीड दोलायमानमानसा-
 मेता साग्रहं समाद्रं च भाषिष्ट—‘वाले, प्रविश्यता कुटीरमिदं
 निर्भयमाप्रातश्च विश्रान्तिसुखं नेव्यताम्’ इति । तत्कारण्येन
 प्रफुल्लहृदया तरुणी प्राविशत् कुटीम्, विस्नृत्य चास्तर्ण भूमौ
 सपदि गाढनिद्रया गृहीताभूदानिशीथम् ।

ततश्च गवाशान्तनिविष्टमुधाकरकरचुम्बितानना जागरि-
 तेय शय्या विसृज्य कुटीराद् बाहू स्थित्वा कौमुदीदुग्धप्रवाहपूर-
 घवलित काननमालोक्यन्ती विधातुं सृष्टिचमत्कारेण परवशी-
 भूतामीन् । मरुतनीतोऽस्मिन् शेषनागमरोवरे रजन्या ध्यानपरा
 वृत्ते प्रतिविम्बितामीत् । आलोकम्यात्यद्भुतरमणीयत्वपरा-
 धानायास्नम्या विचारमग्न्या समापतत् स्मरणं चिराद्द्वितीयाना
 वर्षाणाम्, स्वभर्तुं मनाथोकृतस्वगोहस्य, आत्मीयस्वल्पकाल-
 स्थायिर्वाहिकजीवनयात्राया, अद्भुतञ्चकतं पूर्वं सवृत्तस्या-
 म्युजम्य प्रस्थानम्य मन्दिरात् । दूरम्याधित्यकातस्तम्य स्वरप्रति-
 ध्वानरथावीति च ना व्यभावयत् । भावनेय तु क्षणिकम्वप्य
 इव विनष्टाऽभूत्पुनश्च गाढनिद्रा शब्दना शर्वर्या मर्वतं प्रामरत् ।
 शीतशीतोपकाल योगीन्द्र पूर्वद्युरिव ध्यानावस्थितमद्राक्षीत्
 सा । नन्ध्यायामस्यान्तरायो मा भूदिति यावत्मा पुनश्चलितुं
 प्रवर्तते तावन्मुनेर्नयनयुगमुन्मीलित वलितानने चास्य किञ्चिन्
 मन्दस्मितमाविरभूत् । कृतज्ञताभरपुग्मरमापृच्छमाना युवति
 मुनीन्द्रोऽभाषिष्ट—‘वत्से, याहि पुर । शश्वत्स्याम्यनि तव
 पुण्यम् । शिवास्ते मनुष्यान् । सर्वथा स्वस्ति वितरन्तु ते

देवाः' इति ।

×

×

×

अथ पर्यन्ते नानाविधविलक्षणभावनाभङ्गिप्रवाहूपूर-
प्लावितान्तरा श्रीमदमरनाथस्य गुहान्तिक सम्प्राप । आसीद्वि-
शालस्थल्यां कन्दराद् वहिर्यात्रिकजनार्णवः—क्वचिच्छतशः परि-
णतवयस्काः कुवटिताङ्गयष्टयः, क्वचित्परःसहस्राणां ब्राह्मणानां
समूह इतस्ततो यात्रिकेभ्यो धनाशया साहाय्यं चिकीर्षुः,
क्वचित्परःशतानामन्धपङ्गुमूकवधिरादिभिक्षुकाणां व्रातो जीर्ण-
चोवरवेष्टिताङ्ग. कम्पमानः, क्वचिदनेकेपां परदेशीयानां
समुदायो निवतमानः श्रीनगरम्, क्वचिदर्धनग्नाः शिशवः
स्वस्वमातृनितम्बलग्नाः ।

वधिरोक्त्विनादभयाक्रान्तं तत्क्षण युगपत्प्रायोऽनेक-
रन्ध्रेभ्यो निर्गत्य कपोतवृन्द समुड्डिये वहिः कन्दरात् । तत्र च
ज्वलद्बुधुपसीरभजात म्लानगात्रो तां पुनरुदजोवयदिव । न
चिरात् सा पटान्तेन सवाष्पनयने प्रमृज्य यावत्समुत्तिष्ठति
तावत्पृष्ठतः सा चकितचकितेव प्राचलत् । तस्यौ हि पार्श्वे
वद्धनिष्ठां ता सकोतुकं निरीक्षमाणः प्रवया योगीन्द्रो येन स्व-
कुटोरे कतिपयदिनेभ्यः पूर्वं प्रदत्ताश्रयासीत् सा । 'धन्या ते धर्म-
निष्ठा ! भगवानमरनाथस्तवाभीष्टं सफलीकुर्यात् । वत्से,
दृष्टुतिथं कालमद्यापि जीविष्यसि । देवा हि तरुणजीवनध्वंसन-
मवलोकयितुं नोत्सहन्ते खलु । अनुसर मां तावत् । स्वयमेव
द्रक्ष्यसि मत्प्रतिपादनस्य तथ्यताम् ।' इत्युक्त्वा गुहायाः समीप-
वर्तिष्वनेककुहरेष्वेकं प्रति प्राचलत् स मुनीन्द्रः । सा च जोषं
तमन्वसरत् ।

क्षणांतर प्रविश्य तत्र जवपीठिकाकारां बृहत्तमामेकां हिम-

शिला समुपेतवन्तावुभौ । ततस्तुपागरराशिमङ्गुल्या निर्दिश्य प्राह
 वृद्धतापम — 'वत्से, पश्येमम्' इति । अद्यश्च सा विलोक्य
 मद्यो विस्फारितलोचना म्यगितेव क्षण जडीभूतेव तस्थौ । ततश्च
 व्यलपत् — 'अहह मम दयित, मम दयित, इति । अबमन्नगात्री
 मुक्कनकण्ठमरोदीद् विलोक्य हि हिमाश्लयोरभ्यन्तरे निवेगित
 कस्यचित्तरणस्य पञ्चविंशतिवर्षीयस्य कलेवरम् । पञ्चभ्योऽ-
 न्द्रेभ्य पूर्वं गृह्णात् प्रस्थितोऽम्बुजो यथालोक्यत तथैव विञ्चित्
 म्मेरानन प्रेतोऽपि ददृशे । इति मा ललाटमण्डनायमान मौभा-
 ग्याङ्क कुट्टकुम कमलोदरमोदरकरणेन प्रमृज्य श्रीवायाश्च
 मङ्गलसूत्रमागमनीय पाग्दर्शकहिमशिला च मूढम निम्प्य
 प्रेतस्य हैम आदनपटोपरि ता न्यधात् । 'अहह हृदयेश्वर,
 हृदयेश्वर' इ परिदेवमाना शोऽपारावारकतलोलनिक्षिप्तेव सा
 भूमी न्यपतत् । माश्रान्निगशाया त्रिवि विह्वलविवर्णानना
 हिमवत्पाण्डुवर्णा च समभवत् । तणाच्च तद्वाहपल्लवौ
 निर्जीवोपाङ्गमिवालम्बेता नि मत्त्वा ।

'वत्से, वत्से, प्राणिना जीवन जन्तुद्वयुदस्य भट्गुर्त्व-
 मनुकरोति । अन्न चिन्तया मृतस्य । भगवतो ध्यानं कुरु, निर्वाण
 चान्विच्छ' इति योगिवरो युवति मान्त्वयामास । श्रमेण तदीया-
 नने शान्तित्यागादिभावा प्रादुरभवन् ।

अथ यावच्छीतशीतलहैमममाधिकुहरादुभौ निर्गच्छन्तावद-
 द्राष्टा तौ श्यामश्मश्रुल चर्मत्रञ्चुकधारिण धूलोमनशिरस्क
 दीर्घदुष्परपर्यटनश्रान्त धूलिन्पित्तानन च त्रिंशद्वर्षदेशीय
 पान्यमेक समायान्तम् । अथ मिथोज्वलोक्तिमात्री तरणीतरणौ
 क्षण सम्भ्रान्तौ स्थितौ । पथिक महया पृष्ठतश्चलितस्तत्
 क्षणमात्र साशङ्कमान्दोल्यमानचित्त समाह्वयद्युवति — 'हिमे,

हिमे' इति । इत्थं सम्बोधिताऽध्वगस्यानने दृष्टिं स्थिरयन्ती स्थगितेव स्वचक्षुरधोरविश्वसतीव च हिमा तस्थौ भूलग्नेव । स च स्वजीर्णपोट्टलिकां भुवि निक्षिप्य मरोमाञ्चं सविस्मय-मवाप्तपरमप्रमोदसन्दोहो झटिति सोज्जम्प हिमायाः पार्श्व-मासाद्य तां सरभसमुद्धृत्य गाढमाश्लिष्यत् । अवगन्तुमक्षमा विलक्षणमिमं व्यतिकरं युवतिभ्रान्तभ्रान्ताभूत् । स च तामुदा-सीनामवस्थितां क्रियासमभिहारेण सम्बोधयन् प्राह—'प्रेयसि, अपि नाभिज्ञातस्त्वयाहमम्बुजस्तव भर्ता ?' इति तेनानुयुक्ता सा शून्यदृष्ट्या क्षणं त सूक्ष्मं निरक्षत ।

ततश्च शिरसा संज्ञां दत्त्वा तस्मै, परावृत्य च समाधिकुहरं पुनः प्राविशत् । पान्यञ्च योगीन्द्रद्वितीयः सकुतूहलं तामन्वगमत् । उपेतशवपीठिका सा क्षणं जोष स्थित्वा प्रश्नपूर्वकमिङ्गितेनैव पथिकाय हिमशिलामधिशयानं तरुणस्य समाधिं निरदिशत् । स च प्रेतमालोक्य विस्फारितनेत्रः क्षणं निरूप्य विम्बरमा-क्रन्दत्—'अहो, इमे मे तातपादाः । प्रेयसि, व्यतीतानि पञ्च-वर्षाणि पितुरन्वेषणैकपरायणस्य परिभ्रमतो मे । सर्वेऽपि प्रयत्ना मोघीभूताः । परं हन्त, त्वयाद्य तत्कार्यं सफलत्वं नीतमिति धन्यासि खलु' इत्युदीर्य स निपातितजानुः शिलाया-मुपविश्य करौ सम्पुटीकृत्य साष्टाङ्ग पतितः । ततश्च मुहूर्तं विललाम प्रकामं शान्तिः ।

'अहो विधातुः सृष्टेरयमेकतमोऽद्भुतचमत्कारः । त्रिशत-मब्दान् हि तरुणस्यास्य हिमशय्यायामस्यां कृतपदस्य निरन्तर-प्रस्वापसुखमनुभवत इव कालहस्तेनास्पृष्टं कलेवरं स्थितम्' इत्युक्त्वा हिमशिलोपरि निहितां मङ्गलसूत्रमजमादाय मुनिः पुनरब्रवीदम्बुजम्—'वधानैतां मालिकां ग्रीवायां ते प्रेयस्याः ।

ममागमोज्य युवयोरस्यास्तपसा परिणाम ' इत्युदीर्य हिमाम्बुजी
 प्रमोदपारावारप्रवाहपूरपरिलुप्तौ विसृज्य कुहारान्निर्ययौ
 योगीन्द्र ।

—क्षमाराव, (क्यामुक्तावली ६)

१—भद्रं नो वितरन्तु देवाः

‘अथर्ववेद’ सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय साहित्य की एक अमूल्य निधि है। राष्ट्रीयता, साहस, वीर-नर्जना, उद्बोधन आदि के प्रेरणाप्रद स्थान उसमें स्थल-स्थान पर मिलेंगे। आशा, उत्साह और नई चेतना का संचार करने वाली इन संकलित गद्य-पंक्तियों में प्राचीन वैदिक गद्य की एक झांकी मिलेगी। इनमें देवों को मनुष्य का रक्षक मानकर उनसे कल्याण की आकांक्षा की गई है। एक स्वस्थ, ओजस्वी दृष्टिकोण से ओतप्रोत हैं इम वैदिक भक्त के ये उद्गार—इनमें दैन्य अथवा हीनता की भावना कहीं नहीं टपकती। हमारी जनेन्द्रियों की तेजस्विता ही हमारी लौकिक उन्नति का मुख्य कारण होती है। अतः भक्त उनके विक्रम की, उनकी निर्वाह प्रगति की कामना करता है; कामना ही नहीं करता, इममें अपना अटूट विश्वास प्रकट करता है।

[पृ० ३३ | निर्दुः—निर्दुः का वैदिक रूप; निःश्वास छोड़ा। अर्मण्यः—ऋ (न)-मन्यः, ऋतम्भरा धियः, सत्यमयी धारणाएँ, भावनाएँ। निर्दुः अर्मण्यः अर्थात् भावनाएँ उच्छ्वसित हो उठी। ऊर्जा मधुमती वाक्—बाणी वही है जो ऊर्जस्विनी (बलवती) और मधुर हो। इसके बाद के सारे वाक्य भक्त अथवा मत्तोता कहना है। मधुमतीः स्व—(हे मेरी भावनाओं, जिम प्रकार) - तुम मधुर हो। मधुमतीं वाचम् उद्वेगम्—(उसी प्रकार) मैं भी मधुर वाणी बोलूँ। उपहृतो मे गोपाः—मैंने (वाणी के अधिष्ठाता देव) वाचस्पति (गोपा.) की स्तुति की है (उपहृतः)। उपहृतो गोपीयः—मैंने स्वयं वाणी (गोपीयः—उद्गीयः—गीतम्) की आराधना की है।

*ध्यास्या पृष्ठ-संख्या के क्रम से की गई है।

सुश्रुतो कणौ — मेरे कानों में मधुर श्रुतियाँ भर जाएँ । मद्रश्रुतो कणौ — मर कान कल्याणकारी बात सुने ।

मद्र श्लोक श्रूयासम्—म सुन्दर स्तुति (इनोक्म् = प्रशस्ति) सूनुं । सुश्रुतिश्च हासिष्टाम्—शोभन श्रुतिया तथा कथा-वार्ताया (उपश्रुति) मे म वचिन न हाऊँ (मा हासिष्टाम्) । अहासिष्टाम्—हा (त्यामे), नुद् प्रथमपुरुष द्विवचन, यहाँ 'अद् वा 'न माद् यागे' क अनुमार सोप हुआ है । सोपणं चक्षु, अजत्र ज्योति — मेरी आँखें गन्ट के तेज जोर अक्षय ज्याति में भरी रहें ।

मूर्धा अह रयीणाम्—म प्रेरणाओं (रयीणाम्) का केन्द्र (मूर्धा) बना रहें । मूर्धा समानाना भूयासम्—(उन प्रेरणाओं अर्थात् विचारा के) उच्छ्रवामा का भी केन्द्र बना रहूँ (अर्थात् मेरे विचार जोर मेरी वाणी एकरूप रहें, जैसा म गाछू वैसा ही कहूँ) । समानानाम्—प्राणानाम् । रुजश्च हासिष्टाम्—कर्णा की अनुभूति तथा मगीत में म वचिन न हाऊँ । रुज = र + ज = कर्णा + प्रसूत । तुलना कीजिए—'इनोक्त्वमापद्यत यम्य शोक' (रघुवरा) । वेन — वीणा । मूर्धा हासिष्टाम्—अलमूर्धा भावना (मूर्धा) म तथा वहिमुग्धी वाणी (विधर्मा) में म वचिन न हाऊ ।

बृहस्पति मे आत्मा—जात्मा ही मेरी वाणी का अधिष्ठाता देव (बृहस्पति = गोपा) हा । नूमणा नाम ह्य — (मेरी वाणी म उमी बृहस्पति की) कलात्मकता जोर हृदयस्पतिना हा । नूमणा = नृ + मन् + जा - नृत्यात् । ह्य = हृदयप्रसून । असन्ताप मे हृदयम्—मेरा हृदय मन्ताप-रहित हा (अर्थात् मेरे हृदय में उठी कर्णा की अनुभूति कविता में प्रस्फुटित हो, और इस प्रकार मेरा हृदय निराकुल हा) । उर्वो गव्यति — (मेरी वाणी की) पहुँच विशाल हो । गव्यति = गर्वा + उति, अक् + ति = उति । उरु = विशाल । समुद्र अस्मि विधर्मण — मैं अमीम (वि + धर्मन् = अ + सीम) समुद्र बन जाऊँ ।

नाभि अह रयीणाम्—म प्रेरणाओं का, भावनाओं का केन्द्र (नाभि =

मूर्धा) बना रहूँ। नाभिः समानाना भूयासम्—मैं उन (प्रेरणाओं, भावनाओं) के उच्छ्वासों का भी केन्द्र बना रहूँ। स्वासदासि (स्व+आसत्+असि)—(हे वृहस्पति)तुम हमारी अन्तरात्मा में आसीन हो। आसत्=आ+सद्+क्विप्। सृषा अमृतः नर्त्येष्वा—हम मर्त्यों में तुम उपा के समान दिव्य ज्योति में पूर्ण (सु+उपा) अमृत (-पात्र) हो।

मा...हासीत्—मैं कभी प्राणों से वंचित न होऊँ। सूर्य...पार्थिवेभ्यः—छुलोक (अह्न—दिव) से सूर्य, पृथिवी-लोक से अग्नि, अन्तरिक्ष-लोक से वायु, मानव-लोको से यम तथा अन्य पार्थिव लोक-लोकान्तरो से सरस्वती मेरी रखवाली करे। (वेद में मनुष्य के लिए जो 'पञ्चजन' शब्द आया है, वह सम्भवतः इन पाँच भौतिक तत्त्वों का सूचक है।)

स्वस्ति...दोषसद्म—उपाएँ और सन्ध्याएँ मुझे सदा कल्याण से सरसाती रहे। अद्य=अदिति=अखण्ड रूप से, निरन्तर। सर्वा...अशीय—सब रस-धाराओं का मैं सबके साथ उपभोग करूँ। आपः==अप। सर्वान्नः—सर्वे गर्णं दन्ध्रुवान्धर्वैः सह सामान्येन सम्भञ्जन्। अशीय—अश-ना-ति, अश का आशीलिङ् में उत्तमपुरुष एकवचन।

—०—

२—सत्यमेव जयते

यह कथानक 'ऐतरेय ब्राह्मण' से लिया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का सम्बन्ध 'ऋग्वेद' से है। इसके रचयिता इतरा के पुत्र ऐतरेयः महर्षिदास माने जाते हैं।

वेद में लिखा है—सत्येन उत्तमिता भूमिः, अर्थात् हमारा यह पार्थिव जीवन सत्य पर आश्रित है। इसी के उदाहरणस्वरूप हम प्रस्तुत आख्यान को समझ सकते हैं। कथानक से स्पष्ट है कि यज्ञ के वह्निरङ्ग अनुष्ठान, विनियोग आदि की अपेक्षा अन्तरङ्ग भावना, हृदय की सच्चाई का महत्त्व अधिक है। नाभानेदिष्ट ने किस निर्भयता से

अगरिमा को स्पष्ट कह दिया कि आप लोग के यज्ञ में कहीं कुछ दोष रहता है, जिसके कारण आप स्वर्ग के द्वार तक पहुँचकर भी वापस आ जाते हैं। यही निभयना, यही निश्चयना, यही मचाई उसने अपने प्रतिपक्षी पुरोहित (वृष्णशवामी पुरुष) के प्रति भी बरती और उसका हृदय जीत लिया।

[पृ० ३४] नाभानेदिष्ट मनु का अनिष्ट पुत्र था, सम्भवतः पिता का सबसे प्यारा, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है—नाभानेदिष्ट, नाभी नेदिष्ट, हृदये अन्तमन्मत्वेन स्थित, हृदय के निकटतम। मानव—मनो अपत्य पुमान्, मनु का पुत्र। इहाचर्यं वमतम्—गुरो बन्तेवामिनम्, जो गुरु के आश्रम में विशाध्ययन कर रहा था। निरभजन्—निर्भजन्, लड् प्रथमपुरुष बहुवचन, भाग में वचन कर दिया। एत्य—आ—इ—त्वा (य=त्य), वापस जाकर, गुरुकुल में लौटकर। किम् मह्यम् अमावत—भेरे लिए तुमने क्या भाग रखा छोड़ा है? अमावत (वैदिक) = अनाजयत् (लड्), अभीभजत (तुड्), मध्यमपुरुष बहुवचन। निष्ठावम् = (१) निष्ठापात्रम् तव श्रेयम्, तुम्हारे श्रेय-पात्र प्रिय पिता, (२) निष्ठाव, ठाँव करनेवाला, वसीयत का बँटवारा करनेवाला। अववदितारम्—(१) निरदितारम्, निष्ठावम्, (२) अवमन्तारम्, जो हमें सदा नीचा ही दिखाया करता था (उमरा प्यार सिर्फ तुम्हारे लिए था)। आस्यान वा भाव यह है कि नाभानेदिष्ट मनु का मनमें चहेता बेटा था, शेष पुत्रों ने मनु का उतना प्रेम नहीं था। इसका फल उपेक्षित पुत्रों ने वाप और बेटा दोनों को चम्पा दिया, सारी सम्पत्ति आपस में बाँट ली। नाभानेदिष्ट जब अपनी गिजा ममाप्त करके लौटा, मन्त्र उससे भाश्यों ने उस पर तरह-तरह के व्यंग्य किये—“तुम्हें हिस्सा चाहिए? तुम्हारे हिस्से में हमने तुम्हारी सबसे प्रिय वस्तु रख छोड़ी है। आज मे ‘हमारे’ श्रेय पिता केवल तुम्हारे रहगे। कितना बड़ा त्याग कर रहे हैं हम तुम्हारे लिए।”

त्वा ह वाव मह्यं तत (तात) अमाशु—पिताजी, इन्होंने जो बँट-

द्वारा किया है, उसमें (इनके अनुसार) मेरे हिस्से में आप ही आते हैं (यह क्या मजाक है ?) । ह=किल=एते मे भ्रातरं कथयन्ति इति भावः । वाच=वै, ही, अच्छी-रही । तत=तात=पिता; तनु विस्तारे, सन्तान का जनक ।

मा पुत्रक तत् आदृथाः—बेटा, इस बात में बहुत चिन्तित न होओ; क्यों व्यर्थ में अपने दिल को दुःखाते हो । अङ्गिरसः...आसते—ये अंगिरस लोग स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा में अखण्ड यज्ञ (सद् + त्र) कर रहे हैं । वा=नाम (क) । ते... मुह्यन्ति—वे हर छठे दिन आकर विचार-मूढ़ हो जाते हैं (अर्थात् पूर्णाहुति की वेला में वे, यज्ञ-लोप का अतीव आस्वादन करने के कारण, भन्वादि भूल जाते हैं और इस प्रकार उनका यज्ञ अधूरा ही रह जाता है) । तान्... शंसय—उन्हें (ऋग्वेद के) ये दो सूक्त (१०।६१-२) सुनाओ । (ऐतरेय ब्राह्मण में आया नाभानेदिष्ट का यह आख्यान ऋग्वेद के इन्ही सूक्तों पर आधारित है ।) तेषां... दास्यन्ति—जो हजार (गौओं) का दान यज्ञ की परिममाप्ति पर उन्होंने पुरोहित को देना (निश्चित कर रखा) है, वह सब वे (तुममें इस प्रकार सन्नुष्ट होकर) स्वर्ग जाते समय तुम्हें ही देने जाएंगे । सत्रपरिवेषणम्—यज्ञ के अन्त में परोसी (दी) जानेवाली वस्त्र (दान-दक्षिणादि) : यज्ञान्ते परिवेषणीयम्—ब्राह्मणेभ्यः दातव्या दक्षिणा । स्व + यन्त = स्वर्ग गच्छन्तः ।

तयेति—अच्छा, पिताजी । तान् उपैत—(तदनुसार) नाभानेदिष्ट अंगिरसों की सेवा में उपस्थित हुआ । उपैत=उप + आ + इ, लट्, प्रथम-पुरुष एकवचन । प्रति... सुमेधतः—हे वृद्धिमान् अंगिरसो, मुझ मनु के पुत्र का अभिवादन स्वीकार कीजिए । प्रतिवृन्धीत—प्रति + वृह्, लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन (अभिवादयन्तं अनुजानीत) ।

किकामः=कः कामः अस्य स किकामः; किं काम्यति इति किकामः, किस इच्छा में (तुम यह कह रहे हो); परन्तु यह अभिवादन तुम कर किम स्वार्थ से रहे हो ? उनमें कहा इदम्... प्रज्ञापयानि—यही कि आपके

छठ दिन (की समस्या) को सुवज्ञाने में आया हूँ । प्रज्ञापयानि—(प्र + ज्ञा + णिच्) लोट् उत्तमपुरुष एकवचन, प्रज्ञा बोध दातुम् आगनोऽस्मि । अय इत्त—परन्तु स्वर्ग जाते हुए आप यह गोदान की महत्त्व दक्षिणा मुझे देते जाएँ ।

तथेति—अगिरसा ने कहा, हम यह शत स्वीकार है । ततो वै ते यज्ञ प्र-अज्ञानन्—और मन्त्रमुच (नाभानेदिष्ठ के) इस मुझाव म अगिरसो की अपने यज्ञ की सब गुत्थियाँ मुरदा गईं । स्वर्ग लोक च प्र-अज्ञानन्—स्वर्ग गया है, यह भी उन्हें स्पष्ट हो गया । तद् यदेते अनुस्य्यात्यै—अगिरस लोग ही नहीं, जो कोई भी इन सूना का यज्ञ के छठे (अन्तिम) दिन पाठ करता है, स्वर्गी यज्ञ की मन्त्रिमा को बखूबी जान सकता है, और स्वर्ग के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है । (स) प्रज्ञात्यै, अनुस्य्यात्यै (अन भवति) = प्रज्ञानृम् अनुस्य्यातुम् के वैदिक रूप ।

तदेन वास्तुहम्—परन्तु जब नाभानेदिष्ठ उस (मत्प्रपरिवेषण) को बटोरने लगा, तब उत्तर दिशा में एक बाला-बनूटा ब्राह्मण न जाने कैसे आ टपटा और बोला—“यह भेराह, इस यज्ञ-दक्षिणा का अत्रिकारी मैं हूँ।” समाकुर्वाणम्—सम् + आ + कृ + शानच्, मग्रह कुर्वन्तम् । कृष्णदावासिन्—(१) कृष्णज्ञ + वासिन् (राजी कमली जोड़े हुए), (२) कृष्ण + शव + वासिन् (बाला-बनूटा और शवा पर निवाह करनेवाला जघोरी) । उत्पोत्याय = उप + उद् + म्वा + त्वा, निवृत्त म ही कहीं से, न जाने कहीं से (टपक पडा) । वास्तुहम्—वास्तु + हम्, यज्ञान्ते अवशिष्टम् । हम् = हीनम्, अवशिष्टम् । तद् परिप्रदन —मा चला, हम दोनों के बीच इस षण्ठे का निपटारा तुम्हारे ही पित्त कर दें । ननु अदु —कि मत्स्य पुत्र, अगिरस गना दक्षिणा तुम्हें दस्वा एव स्वर्गम् अगच्छन् । ननु, एति प्रदन ।

[पृ० ३५] इत्यादित्त —वर्गैरह-वर्गैरह । तस्वैव पुत्रक तत् = बेटा, (वह भी ठीक कहता है,) इस दक्षिणा का मूल अत्रिकारी मन्त्रमुच वही है (क्याकि वह शायद उनका कुल-पुराहित है) ।

भगव (वैदिक) = भगव = भगवन् (मन्त्रोचन एकवचन) ।

३—आचार्योऽन्तेवासिनम् अनुशास्ति

यह भारत के प्राचीन आश्रम-विद्यालयों में दिया जाने वाला दीक्षान्त-उपदेश है। जब शिष्य अपना वेदाध्ययन समाप्त कर चुकता है तब आचार्य समावर्तन-संस्कार के समय उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर गृहस्थ-धर्म का पालन करने की शिक्षा देता है। गृहस्थाश्रम को ही भारतीय मनीषियों ने सब आश्रमों में श्रेष्ठ बताया है—चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठ-मुत्तमम् (वा० रामायण २।१०६।२२), क्योंकि गृहस्थ की उदारता पर ही अन्य आश्रमचारी निर्भर रहते हैं। अतः आचार्य शिष्य से कहता है कि अब वह समय आ गया है जब ससार से विरक्त न रहकर उसमें प्रवेश करने की और सदाचारपूर्वक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हुए समाज-कल्याण में योग देने की आवश्यकता है। इस उपदेश में कहीं हुई बातें चिरन्तन सत्य हैं, वे सभी देश-काल के विद्यार्थियों के लिए, आध्यात्मिक और सात्त्विक क्षेत्र में, पथ-प्रदर्शक हैं। अकृत्रिम जैनी में, सीधी और सरल भाषा में, उपनिषत्कार ने वे सारभूत बातें कर दी हैं, जो हमारी ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिए अपेक्षित हैं। क्या आश्चर्य, यदि आज भी काशी, दिल्ली तथा गुरुकुल कांगड़ी के विश्वविद्यालयों में, दीक्षान्त-समारोहों के समय, 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के इस अंश का वहाँ के उप-कुलपतियों द्वारा नव-स्नातकों के समक्ष उद्घोष किया जाता है !

'तैत्तिरीय उपनिषद्' की गणना उपनिषदों के सबसे प्राचीन वर्ग में की जाती है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होने के कारण यह 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाता है। इसके तीन खण्ड हैं, जो 'बल्ली' कहलाते हैं—शिक्षा-बल्ली, ब्रह्मानन्द-बल्ली और भृगु-बल्ली। प्रस्तुत अंश शिक्षा-बल्ली का स्यारहवाँ अनुवाक है।

[पृ० ३५] अनूच्य (अनु + वच्—क्या (य) = अनु + उक्त्वा) — अध्याप्य, अध्ययन कराकर। अन्तेवासिनम्—गुरो. अन्ते समीपे वसति इति अन्तेवासी तम्, सप्तम्याम् अनुक्, अपने आश्रम में रहनेवाले विद्यार्थी

को। अनुशास्ति—ग्रन्थग्रहणाद् अनु पश्चात् शान्ति तदर्थं ग्राहयति इत्यर्थं, (अध्ययन की समाप्ति पर) शिक्षा देना है, उपदेश देना है। यह उपदेश इस प्रकार है—

[सत्य वद—तुम सत्य बात। तुलना कीजिए—‘सत्यपूत वदेद्वाच मन-पूत समाचरेत्।’ धर्मं चर—धर्म का आचरण करो। धर्म के अन्तर्गत कई बातें समाविष्ट की जाती हैं, जैसे—(१) अपने वृण-आश्रम के अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्म, (२) कर्तव्य, (३) मदाचार, (४) जीवन के मौलिक नैतिक सिद्धांत इत्यादि। स्वाध्यायान्—स्वाध्याय में। स्वाध्याय का तात्पर्य वेदों के अभ्यास, मन्त्र-वन्दन, गायत्री-जप आदि नित्य-कर्म में है। मा प्रमाद—कभी न चूका, प्रमाद मा कार्षीं। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना, अर्थात् न तो कभी उमें अनादरपूर्वक करना और न थालस्यवदा उसका त्याग ही करना। आचार्याय—गुरु के लिए। प्रिय धनम्—(दक्षिणा रूप में) वांछित धन। आहृत्य (आ + हृ + ल्यप्) आनीय, नगर देकर। आचार्य में विद्या पाने के उपनयन में उमें दक्षिणा देकर प्रसन्न करना शिष्य का कर्तव्य है। प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी—आचार्येण च अनुज्ञात अनुम्पान् दारान् आहृत्य प्रजातन्तु प्रजासन्तान मा व्यवच्छेत्सी प्रजासन्ताने विच्छिन्नं कर्तव्यं, अर्थात् (गुरु की आज्ञा में अनुम्प स्त्री में विवाह करके) सन्तान-परम्परा को जारी रखो, उसका उच्छेद (नाश) न करो। गुरु का कहना है कि शास्त्रविधि के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी के माय ऋतुकाल में नियमित सहवास करके सन्तानोत्पत्ति का कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। वंश-परम्परा को अविच्छिन्न बनाए रखना, भारतीय शास्त्रकारों के अनुसार, गृहस्थ का परम धर्म है। व्यवच्छेत्सी—वि + अव + च्छिद्, च्छि मध्यमपुष्प एकवचन, ‘न मात् योगे’ भूत्र के अनुमात्र मा के योग में अट् का लोप हो गया है। सत्यात् न प्रमदितव्यम्—सत्य में कभी नहीं डिगना चाहिए, प्रमाद न कर्तव्य, अर्थात् तुम्हें हमी-दिग्गो या व्यर्थ की बातों में वाणी की शक्ति को न तो नष्ट करना चाहिए और न परिहास आदि के बहाने कभी भूठ ही बोलना चाहिए। धर्मात् न प्रमदितव्यम्—धर्म-पालन में

भूल नहीं करनी चाहिए, अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। कुशलात् न प्रमदितव्यम्—शुभ कर्मों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु उनका यथायोग्य अनुष्ठान करते रहना चाहिए। श्री राजगोपालाचार्य के अनुसार 'समाज का योगक्षेम करनेवाले कार्यों में से कोई कार्य करो।' भूत्यै—मङ्गलयुक्तात्कर्मणः, उन्नति के साधनों से कभी नहीं चूकना चाहिए, अर्थात् धन-सम्पत्ति बढ़ाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिए। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम्—स्वाध्यायः अध्ययन प्रवचनम् अध्यापन ताभ्याम्, अध्ययन और अध्यापन से, पढ़ने और पढ़ाने से (कभी नहीं चूकना चाहिए)। देवपितृकार्याभ्याम्—देवकार्य और पितृकार्य से। अग्निहोत्र, यज्ञ आदि का अनुष्ठान देवकार्य है, और श्राद्ध, तर्पण आदि पितृकार्य। इनके सम्पादन में भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥

मातृदेवो भव—माता देव यस्य स मातृदेव भव स्याः, तुम माता को देव-रूप समझनेवाले बनो, अर्थात् माता का देवता की तरह सम्मान करो। उपनिषत्कार का आणय यह है कि माता, पिता, आचार्य और अतिथि, इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर सदा इनकी आज्ञा का पालन, इन्हें नमस्कार और इनकी सेवा करते रहना, इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार में प्रसन्न रखना।

यानि...सेवितव्यानि—जो-जो निर्दोष (अनिन्दित) कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। नो इतराणि—दूसरे (दोषयुक्त) कर्मों का कभी आचरण नहीं करना चाहिए। अनवद्यानि—न अवद्यानि निन्दितानि इति। यानि अस्माकं सुचरितानि—हमारे (आचरणों में से भी) जो-जो अच्छे आचरण हैं। तानि त्वया उपास्यानि—उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिए। गुरु के भी सभी आचरण अनुकरणीय होते हों, ऐसा नहीं; जिनके विषय में जरा-सी भी शंका हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए। शङ्कराचार्य कहते हैं—'सावधानि शिष्ट-कृत्यान्वपि नो कर्तव्यानि', शिष्टों द्वारा भी किए जानेवाले शदोप कर्मों

का आचरण नहीं करना चाहिए । ये केच अस्मिन् श्रेयास (प्रशस्यतरा) ब्राह्मणा—जो कोई भी हम म श्रेष्ठ (गुरुजन गव) ब्राह्मण (तुम्हारे पाम) आएं । तेया त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्—उनको तुम्हें आसन प्रदान कर श्रियाम दना चाहिए । [पृ० ३६] प्रश्वमितव्यम्—गृतेपा आमनदानादिना त्वया प्रश्वमितव्यम्, प्रश्वमन प्रश्वाम श्रमापनय, तेषा श्रम त्वया अपनेनव्य दत्तयथ । अथवा, शङ्कर के अनुसार, 'न प्रश्व-मितव्यम् प्रश्वामोऽपि न कर्तव्य केवल तदुक्तमारग्राहिणा भवितव्यम्', उनके मामले कोई शब्द नहीं उच्चारित करना चाहिए, जो वे कहते हैं उनका हमें मार मात्र ग्रहण करना चाहिए, उनके साथ अनावश्यक विवाद में नहीं उतरना चाहिए ।

श्रद्धया देयम्—श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए । अश्रद्धया अदेयम्—बिना श्रद्धा के नहीं देना चाहिए । बिना श्रद्धा के किए हुए दान आदि कर्म अमत् माने गए हैं—'अश्रद्धया हुन दत्त तपमन्व कृत च यत् । अमदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो दृष्ट ॥' (गीता १७।२८) । श्रिया-देयम्—अपनी श्रिया श्रियि के अनुसार दाना चाहिए । डा० राधा-कृष्णन् ने 'श्रिया' का अर्थ 'प्रचुरता में' किया है । श्रिया देयम्—लज्जा में, नम्रता के साथ दान देना चाहिए । मे जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है, या मोबकर, सकोच का अनुभव करने हुए, दान देना चाहिए । मन में दानीपन के अभिमान का नहीं आने देना चाहिए । श्रिया देयम्—भय में देना चाहिए । यह भय राजा का, शास्त्र का या कजूम टहराये जाने का हो सकता है (राजादिभयेन, शास्त्रभीत्या, कापंप्यारवादभयेन वा) । सविदा देयम्—श्रेयसादिवायेण, मित्रों और सम्बन्धियों की सहायता के रूप में देना चाहिए, जयवा (जो कुछ भी दिया जाए वह सब) श्रेयसापूर्वक देना चाहिए । ऐसा दान ही मान्दिक दान कहना है । 'दानव्यमिति महान दीयतेऽनुषवारिणे । देते काये च पात्रे च तद्दान मान्दिक स्मृतम् ॥' (गीता १७।२०)

विचिक्षित्ता=सूदेह । वृत्तविचिक्षित्ता—आचारलक्षणे मनाय ।

‘अयं...कर्मविचिकित्सा—इसके बाद यदि तुमको कर्तव्य का निर्णय करने में किसी प्रकार की शंका हो। वा वृत्तविचिकित्सा वा—या नदाचार के विषय में कोई शंका कदाचित् (वा) हो जाए तो। ये तत्र ब्राह्मणः—वहाँ जो ब्राह्मण। सम्मर्शिनः—विचारधमा, उन्नत विचारवाने। युक्ताः—अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा, (सत्कर्म और नदाचार में) भली भाँति लगे हुए। आयुक्ताः—अपरप्रयुक्ताः, स्वतन्त्र विचारवाने। अलूक्षाः (अदक्षाः का वैदिक रूप)। रुद्धेपन मे रहित, अक्रूरमनयः, अश्लेष स्वभाववाने। धर्मकामाः—धर्म के अभिलाषी, धर्मपरायण। स्युः==हो। यथा...वर्ततः—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसंगों में वर्तित करें, वैसा ही उन प्रसंगों में तुम्हें भी वर्तित करना चाहिए।

भाव यह है कि यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाए, अपनी बुद्धि में किसी एक निष्पत्ति पर पहुँचना कठिन हो जाए, तुम किकर्तव्यविमूढ हो जाओ, तो ऐसी स्थिति में वहाँ जो कोई विचारवान्, सदाचारी, स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाने, स्नेहणीय एवं धर्मान्वा ब्राह्मण (या अन्य कोई वैसे ही महापुरुष) हों, वे जिस प्रकार ऐसे प्रसंगों पर आचरण करते हों, उन्हीं प्रकार का आचरण तुम्हें करना चाहिए। ऐसे स्थलों में उन्हीं के मत्परामर्श के अनुसार उन्हीं के स्थापित आदर्श का अनुगमन करना चाहिए। एषः आदेशः—यह (शास्त्र की) आज्ञा है। एष उपदेशः—यही (गुरुजनों का अपने शिष्यों और पुत्रों के लिए) उपदेश है। एषा वेदोपनिषत्—यही वेदों का रहस्य है। ‘उपनिषत्’ शब्द स्त्रीलिंग है और रहस्य का वाचक है। एतद् अनुशासनम्—यही (परम्परागत) शिक्षा है। एवम् उपासितञ्चम्—इसी प्रकार (तुम्हें कर्तव्य एवं सदाचार का) पालन करना चाहिए।

एवम् उ च एतद् उपास्यम्—इसी प्रकार यह पालन (अनुष्ठान) करना चाहिए। यहाँ शब्दों की पुनरावृत्ति इसलिये की गई है कि स्नातक इन शिक्षाओं का महत्त्व भली भाँति हृदयंगम कर लें। उ=और।

४—ब्रह्म एव महोयते

एक छोटा-सा तिनका । कितना क्षुद्र और नगण्य ! न उममें कोई सौंदर्य, न कोई शक्ति । बलवानों द्वारा सदा उपेक्षित और तिरस्कृत । परन्तु यह छाटा-सा तिनका भी बड़े-बड़े शक्तिशाली और तेज पुज अभिमानिया का दण-दलन करने की कितनी अमोघ शक्ति रखता है, इसका बड़ा राक्षक और शिक्षाप्रद वणन 'केनोपनिषद्' की प्रस्तुत कथा में आया है । अमुरा पर विजय प्राप्त करने के बाद देवताओं का अपने बल का अभिमान हा गया था । उनका इस अभिमान को दूर करने के लिए परमात्मा एक विशाल यक्ष के रूप में आकाश में प्रकट हुए । देवताओं ने उस यक्ष का पना लगाने के लिए अग्नि और वायु को एक-एक-बाद-एक उससे पास भेजा । यक्ष ने इन अभिमानों देवताओं का दण दूर करने के लिए एक सूखा तिनका आगे रखकर उसे जलाने और उठाने के लिए कहा, परन्तु अपनी शक्ति लगाकर भी न तो अग्निदेव उसे जला सके और न पवनदेव उसे तिन मात्र भी हिला सके । अंत में इन्द्र के जाने पर प्रतीति हुई कि परमेश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, अतः हम लोगों का अभिमान करना बृथा है ।

यह कथा 'केनोपनिषद्' के तीसरे प्रकरण में ली गई है । इस कथा द्वारा उपनिषत्कार ने यह ममसाया है कि विश्व में जो कोई भी प्राणी या पदार्थ शक्तिमान्, सुन्दर और मिय प्रतीत होता है, उसके जीवन में जो सफलता योग्यता है, वह सब परब्रह्म परमेश्वर के एक अणु की ही महिमा है । इन पर यदि कोई अभिमान करता है तो वह बड़ी भूल करता है ।

'केनोपनिषद्' का अन्त नाम इसलिए पड़ा कि इसका-पहला मात्र शब्द 'केन' शब्द ने आरम्भ हुआ है—केनेपित पतति प्रेषित मन (यह मन किममे प्रेरणा पाकर अपने विषया तक पहुँचना है ?) । यह उपनिषद् सामवेद के 'तलवकार ब्राह्मण' के अन्तर्गत है, इसलिए इसे 'तलवकार उपनिषद्'

भी कहते हैं। इसके प्रथम दो प्रकरण गद्य में हैं और अन्तिम दो पद्य में। 'केनोपनिषद्' की देवता-गर्व-हरण की यह कथा 'देवी-भागवत पुराण' में भी आई है।

[पृ० ३६] ब्रह्म ह देवेभ्यः विजिग्ये—ब्रह्म ने ही देवताओं के लिए (असुरों पर) विजय प्राप्त की। विजिग्ये—जि, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन। ह—ही, निश्चयपूर्वक। तस्य... अमहीयन्त—किन्तु ब्रह्म की उस विजय में सब देवता अपने को बड़ा मानने लग गए, उन्होंने अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया। अमहीयन्त—मह् (च्चि), लुङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, अमहान्तः महान्तः अभवन्। ते ऐक्षन्त—वे समझने लगे। अस्माकम्... महिमेति—कि यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है। अग्निप्राय यह है कि परब्रह्म ने देवों पर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। यह विजय वस्तुतः ईश्वर की थी, देवता तां केवल निमित्त-मात्र थे, किन्तु इस ओर देवताओं का ध्यान नहीं गया और वे ब्रह्म की कृपा की ओर लक्ष्य न करके उसकी महिमा को अपनी महिमा समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम बड़े शक्तिशाली हैं, हमने अपने ही बल-पौरुष से असुरों को पराजित किया है। तत् ह एषां विजिगी—उस (ब्रह्म) ने इन (देवों) का (भाव) जान लिया। देवताओं के मिथ्याअभिमान को भगवान् समझ गए। उन्होंने सोचा कि इसमें इनका पतन हो जाएगा। इसलिए देवताओं का दण्ड चूर्ण करने के लिए तेभ्यः ह प्रादुर्बभूव—वह ब्रह्म उनके सामने प्रकट हो गया। तब देवता आश्चर्यचकित होकर उस अत्यन्त विशाल रूप को देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यज्ञ कौन है। तत् न व्यजानन् किम् इदं यज्ञम् इति—वे यह नहीं जान पाए कि यह यज्ञ कौन है। यज्ञम्—पूज्यं महद् भूतम्, कोई पूज्य महाप्राणी। ब्रह्म अपनी शक्ति से देवताओं के समक्ष साकार प्रकट हो गया—'स्वयोगमाहात्म्य-निमित्तेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानाम् इन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव' (शङ्करः)।

ते अग्निम् अद्भुवन्—देवता उस अनिविचित्र महाकाय दिव्य यक्ष को देखकर मन-ही-मन सहम-से गये और उमका परिचय पाने के लिए व्यग्र हो उठ। अग्नि परम तेजस्वी है, इसलिए देवताओं ने इस कार्य के लिए उसे ही उपयुक्त समझा और उसने कहा जातवेद एतत् विज्ञानीहि किम् एतत् यक्षम् इति—हे जानवेद, इस बात का पता लगाओ कि यह कौन है। जातवेदस्—सर्वज्ञ (सर्वज्ञकल्पम्), अग्नि समस्त जात पदार्थों का ज्ञान रखना है, जात सर्वं वेत्ति इति जातवेद। यह नाम अग्नि को ऋग्वेद में दिया गया है। अग्नि देवता को अपनी बुद्धि-शक्ति का गर्व था, अतः उसने कहा—तया इति, ऐसा ही होगा, मैं अभी जाकर पता लगाता हूँ। तन् अग्न्यद्भवत्—अग्नि दौड़कर उसके समीप गया। उसे अपने समीप ब्रह्मा देखकर तम् अग्न्यद्भवत्—(यय ने) उम (अग्नि) से पूछा—क असि इति—कि तुम कौन हो? अग्नि ने सोचा कि मेरे तेज पुञ्ज स्वरूप को सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना, इसलिए उमने तमककर उत्तर दिया—अग्नि चं अहम् अस्मि, कि मैं ही अग्नि हूँ। जातवेदा वं अहम् अस्मि इति—कि मैं ही जातवेद के नाम से प्रसिद्ध हूँ। तत्र यक्ष-रूपी ब्रह्मा ने पूछा तस्तिन् त्वयि किं धीयंम् इति—कि उक्त नामों वाले तुम (अग्नि) में क्या सामर्थ्य है? इस पर अग्नि ने सगव उत्तर दिया—अपि इति—कि मैं इस पृथ्वी पर यह जो कुट्ट भी है, इस सबको जनाकर भस्म कर दू, अर्थात् मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डल में जो कुट्ट भी देखने में आ रहा है, सबको जलाकर अभी राख का ढेर कर दू। तत्र उस दिव्य यक्ष ने तस्मिं तूष्ण निदधौ—उसके सामने एक तिनका रख दिया (और यह कहा) एतन् बह इति—कि इसे जला दो। तत् उपप्रेयाय—(उप + प्र + इ, निट् प्रथमपुरुष णकवचन) वह तिनके पर टूट पड़ा। सर्वज्ञत्वेन—सर्वोत्साहश्रुतेन वेगेन, पूष्ण शक्ति लगाकर। तत् न शशाक दाधुम्—उसे खाने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हुआ। तत एव निववृत्ते—(तब लज्जित होकर) वहाँ मैं लौट गया (और देवताओं में बोला)—न एतत् अशकं विज्ञातु यत् एतत् यक्षम् इति—कि मैं यह जानने में समर्थ नहीं

हो सका कि यह यक्ष कौन है। अग्नि में जो अग्नित्व है, दाहिका शक्ति है, वह तो शक्ति के मूल भंडार परमात्मा से मिली हुई है। वह यदि इस शक्ति-स्रोत को रोक दे तो फिर शक्ति कहाँ से आएगी ! अग्नि इस वात को न समझकर ही खींग हाँक रहा था। पर जब ब्रह्म ने अपनी शक्ति को रोक लिया, तब सूखा तिनका भी अग्नि से नहीं जल सका।

अथ वायुम् अद्भुवन्—जब अग्नि असफल होकर लौट आया तब देवताओं ने इस कार्य के लिए अप्रतिम-शक्ति वायु को चुना। [पृ० ३७]
मातरिश्वा—मातरि अन्तरिक्षे श्वयति इति मातरिश्वा। एतत् भावत्स्व इति—इसे उड़ा दो। आदातुम्—उड़ाने में।

तदनन्तर देवताओं ने स्वयं देवराज इन्द्र को इस कार्य के लिए चुना। मघवन्—हे इन्द्रदेव ! पर इन्द्र के पहुँचते ही तस्मात् तिरोदधे—वह यक्ष उसने सामने से अन्तर्धान हो गया। इन्द्र में इन देवताओं से अधिक अभिमान था, इसलिए ब्रह्म ने उसको वार्तालाप का भी अवसर नहीं दिया; परन्तु इस एक दोष के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से इन्द्र अधिकारी था, अतः उसे ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इसीकी व्यवस्था के लिए—वह स्वयं अन्तर्धान हो गया। यक्ष के अन्तर्धान हो जाने पर इन्द्र वहीं मगडा रहा, अग्नि वायु की भाँति वहाँ से लौटा नहीं। इतने में ही स तस्मिन् हैमवतीम्—वह उसी आकाश-प्रदेश में (यक्ष के स्थान पर ही) अतिशय सुन्दरी, हिमाचलकुमारी उमा के पास आ पहुँचा (और बोला कि यह यक्ष कौन था ?)। इन्द्र पर कृपा करके परब्रह्म ने उमा-रूपा साक्षात् ब्रह्म-विद्या को प्रकट किया।

सा ब्रह्म इति ह उवाच—उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि वह परब्रह्म परमात्मा था। ब्रह्मणः वै एतत् विजये महीयध्वम् इति—उस परमात्मा की ही इस विजय में तुम अपनी महिमा भगने लगे। ततः एव—उमा के इस कथन से ही। ह विवाञ्छकार ब्रह्म इति—इन्द्र ने निश्चयपूर्वक समझ लिया कि वह ब्रह्म ही था। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार यह आख्यान, कि हिमाचल-पुत्री उमा ने देवों को ब्रह्म का रहस्य उद्घाटित किया, यह

सूचित करता है कि वनवासी ऋषिया ने अपना औपनिषदिक चिन्तन हिमालय की चन्द्ररात्रि में जाकर विकसित-मल्लविन किया। उमा (ब्रह्म-विद्या) को हैमवती इसीलिए कहा गया है कि हिमालय में माधु, सन्त और यात्री शताब्दियों में जाने रहे हैं और आध्यात्मिक शान्ति पाते रहे हैं। विद्या समस्त सुन्दर वस्तुओं में सुन्दरतम वस्तु है—'सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या, विद्वेषोऽपि विद्यावान् बहु शोभने'। तस्मात् ये एते देवाः—इसीलिए ये तीनों देवता यद् अग्नि वायु इन्द्र—जो कि अग्नि, वायु और इन्द्र के नाम में प्रसिद्ध हैं, अन्यान् देवान् अतितराम् इव—दूसरे (चन्द्रमा आदि) देवा की अपेक्षा मानो अनिश्चय श्रेष्ठ हैं। हि ते एतन्नेदिष्टम् पस्पृशु—क्योंकि उन्होंने ही इस समीपम्य (ब्रह्म) को (दर्शन द्वारा) स्पर्श किया है। नेदिष्टम्=नेद् (निकट) + ईष्टम्, निकटतम। पस्पृशु—स्पृशु, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन। ते हि एतत् प्रथमं विदाश्चकार ब्रह्म इति—और उन्होंने ही इसको सबसे पहले जाना है कि यह ब्रह्म है। ममस्त देवताओं में अग्नि, वायु और इन्द्र को ही परम श्रेष्ठ मानना चाहिए, क्योंकि उन्हीं तीनों ने ब्रह्म का मस्पर्श प्राप्त किया है और उन्होंने ही इस सत्य को समझा कि हम लोगों ने जिनका स्पर्श प्राप्त किया है, जिनमें धार्तालार किया है और जिसकी शक्ति में असुरों पर विजय प्राप्त की है, वही साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है। (अन्य देवताओं ने तो उनसे बेचन मुनकर जाना कि हम जो दिव्य यज्ञ दिखाई दे रहा था, वही ब्रह्म था।) इसी प्रकार जिन सौभाग्यशाली पुरुषों को किसी भी कारण से ईश्वर के सम्पर्श का, उसके दर्शन, स्पर्श और उसके साथ सदानाप का सुखबसर प्राप्त हो चुका है, उनकी महिमा भी इन्द्रादि देवताओं के समान है। इन तीनों देवताओं में भी अग्नि और वायु की अपेक्षा इन्द्र श्रेष्ठ है, इसका कारण अगले मंत्र में बताया गया है। तस्मान् ये इन्द्रान्यान् देवान् अतितराम् इव—इसीलिए इन्द्र दूसरे देवताओं की अपेक्षा मानो अनिश्चय श्रेष्ठ है। हि स एतन्नेदिष्टम् पस्पृशु—क्योंकि उसने इस समीपम्य (ब्रह्म) को (उमादेवी से मुनकर सबसे पहले मन

के द्वारा) स्पर्श किया। स हि ब्रह्म इति—(और) उसी ने अन्यान्य देवताओं से पहले यह जाना कि यह ब्रह्म है। अग्नि, वायु और इन्द्र तीनों को ब्रह्म का दर्शन और तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हुई, परन्तु इनमें भी इन्द्र ने सबसे पहले इस तत्त्व को समझा कि ब्रह्म की महिमा ये ही मारे देव महिमान्वित हैं, इसलिए इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माना गया।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार इस आख्यान में रूपकात्मक ढंग से नाना वैदिक देवताओं पर परब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता प्रतिष्ठित की गई है।

५—अधिकारिवर्गेषु राज्ञो जागरूकता

चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य कौटिल्य (चाणक्य) का 'अर्थशास्त्र' (४०० ई० पू०) अर्थशास्त्र-साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसे प्राचीन भारत का आर्थिक एवं राजनीतिक कोण कहा जा सकता है। राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा, मन्त्रि-मण्डल, गुप्तचर, राजदूत, अन्तःपुर, शासन-प्रबन्ध, दुष्टों का निग्रह, व्यवहार (कानून), चीजों में मिलावट, मूल्य-नियन्त्रण, भूटें नाप-तोला को रोकने के उपाय, कूटनीति, युद्ध-मंचालन, गुप्त विद्यार्थे आदि अनेकानेक विषयों पर कौटिल्य ने सुलभे हुए विचार प्रकट किए हैं, जिनसे आज के परिवर्तित युग में भी लाभ उठाया जा सकता है। 'अर्थशास्त्र' की भाषा गद्य-प्रधान है, जिसमें कहीं-कहीं पद्य भी आ गए हैं। गद्य में सूत्र और भाष्य दोनों शैलियों का सम्मिश्रण पाया जाता है। प्रस्तुत पाठ में भ्रष्ट सरकारी कर्मचारियों के प्रति शासक किस प्रकार जागरूक रहे, इस विषय पर ऊहापोह किया गया है। कौटिल्य के सुझावों को क्या आज भी कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है, यह भले विचारणीय हो, पर मार्कें की बात यह है कि आज से लगभग २५०० वर्ष पहले ही भारत के राजनीतिज्ञ सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार के

उत्कृष्टता के लिए जिस गम्भीरता में सोचते थे। सोचते ही नहीं थे, वरन् ऐसे व्यावहारिक नियम भी बनाते थे, जो उन दिनों अवश्य ही लागू किए जाते रहे होंगे।

कौटिल्य का गद्य औपनिषदिक गद्य में अधिक प्राञ्जल और सयत है। निराडम्बरता और सरलता इसके विशेष गुण हैं। लम्बे समासों का प्रयोग दिखाई देता है। वाक्य-विन्यास चतुस्त और गूढा है। पदों की पुनरुक्ति लुप्त हो गई है।

[पृ० ३७] अमात्य नियोग्या —अमात्या की योग्यता (सम्पदा) में युक्त व्यक्तियों को, उनकी निजी सामर्थ्य के अनुसार (शक्ति), मरकरी विभागों के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त करना चाहिए।

धर्मसु कारयेन् —काय-ससम्पत् होने पर उनकी प्रतिदिन जांच-पड़ताल करनी चाहिए। चित्ता० —क्योंकि मनुष्यों का चित्त चल-चलना है। अश्वसधर्माण विकुर्वन्ते —मनुष्यों के गुण (धर्म) घोडा-जैसे होने हैं और किसी काम में लगाए जाने पर उनमें विकार आने रहते हैं। विकुर्वन्ते —विपरीत कुवन्ति। तस्मात्० —इसलिए कर्ता, साधन, देश, काल, कार्य, उसका प्रारम्भ और परिणाम इन सबका पता रखना चाहिए।

ते यथा कुर्वन् —वे (विभागीय अध्यक्ष) आदेशानुसार काम करें, न उनमें घनिष्ठता हो (असहता) और न वे आपस में लड़ें (अविगृहीता)। [पृ० ३८] सहता भक्षयेयु —घनिष्ठता होने पर वे (राज्य की आय) हृदय जाएंगे। विगृहीता विनाशयेयु —लड़ने पर वे काम बिगाड़ देंगे। न चानिवेद्य कारेभ्यः —आपत्तियों के निवारण के अतिरिक्त (=अथत्र) व कोई भी काम स्वामी की अनुमति बिना आरम्भ न करें। प्रमाद द्विगुणम् —असावधानी करने पर दैनिक वेतन तथा स्वर्ण का दुगुना जुर्माना (अन्यदम्) उन पर किया जाए। यश्चैषा लभेत —इन (अध्यक्षों) में जो (राजकीय) आय को आदेश के अनुसार या उसमें कहीं अधिक एकत्र करता है, उसे पद-वृद्धि और सम्मान प्रदान करना चाहिए।

समुदयम्—आय । परिहापयति—कम करना है या हानि पहुँचाता है । राजार्थं भक्षयति—राजा का भाग हड़पता है । अज्ञानादिभिः—यदि वह अनजाने में (राज्य की आय में) हानि पहुँचाता है तो उसे उस हानि की उसी मात्रा में (वयानुगम्) पूर्ति करनी होगी । द्विगुणम् उद्भावयति—दुगुनी बढ़ा देता है । जनपदं भक्षयति—वह देश का हानि पहुँचाता है । स चेद् राजानम् उपनयति—यदि वह (उस दुगुनी आय को) राजा तक पहुँचा देता है तो अल्पापराधे वारयितव्यः—अपराध अल्प होने पर उसे चेतावनी देनी चाहिए । महति०—अपराध गम्भीर होने पर उसे अपराध के अनुसार दंडित करना चाहिए । यः समुदयं भक्षयति—जो आय को (मुनाफा अर्जित किए बिना) खर्च कर डालता है वह कर्मचारियों के परिश्रम को खाता है (व्यर्थ करता है) । सः षण्डयितव्यः—उसे (व्यर्थ गए) काम के दिनों, (बेकार गई) पूँजी की कीमत तथा कर्मचारियों को दिए गए वेतन के हिसाब से दंड देना चाहिए ।

आधेकरणे शासनस्यः—विभागाध्यक्ष । कर्मणः यथातथ्यम्—काम का वास्तविक परिमाण । आयव्ययौ च—तथा आय और व्यय । व्यास-समासाभ्याम्—एक साथ और अलग-अलग करके । आचक्षीत—जांचि । मूल प्रतिषेधयेत्—उसे मूलहर, तादात्विक और कदर्य लोगों पर रोक लगानी चाहिए (उन्हें बरखास्त कर देना चाहिए) । यः मूलहरः—जो वाप-दादों के दैसे को (वशानुगत सम्पत्ति को) अन्याय से खाता है, वह मूलहर है । यः तादात्विकः—जो कुछ कमाता है उसे सारा चट करने-वाला तादात्विक है । यो कदर्यः—जो अपने नौकर-चाकरों को तथा स्वयं अपने को कष्ट पहुँचाकर धन जोड़ता है, वह कदर्य है ।

अध्यक्षाः कुर्युः—अध्यक्षों को चाहिए कि वे गणक या लेखा-परीक्षकों (संस्थापक), लेखकों, सिक्कों की जाँच-पड़ताल करनेवालों (रूपदर्शक), कोषाध्यक्षों (नीवीग्राहक) तथा सैनिक अधिकारियों (उत्तराध्यक्ष) के साथ सहयोगपूर्वक अपना-अपना कार्य करें ।

हस्त्य अपसर्पाः—हाथी, घोड़े और रथों के अधिकारियों के पास

रहनेवाला को, जो चतुर और ईमानदार हो, गणको आदि पर निगरानी रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त करता चाहिए। बहुमुह्यम् स्यापयेत्— प्रत्येक विभाग के कई अस्थायी अध्यक्ष होने चाहिए।

मत्स्या ०—जिम प्रकार पानी के अन्दर विचरण करती हुई मछलियों को पानी पीते हुए नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार राजकीय काम में लगे सरकारी नौकरो को (अपने लिए) पैसा बटोरते हुए नहीं देगा जा सकता।

[पृ० ३६] अपि शक्या—आफ़स म उदते हुए पक्षियों की गति-विधि जानी जा सकती है, लेकिन गुप्त भावनाले सरकारी कर्मचारियों की चाल टाल का पता नहीं लगाया जा सकता।

न चक्षयन्ति—जो राजा की आय को खाने के बजाय न्यायपूर्वक बढ़ाते हैं और उसके प्रिय और हिन में सलमन रहते हैं, उनकी नौकरी स्थायी कर देनी चाहिए।

६—अनन्तपार किल शब्दशाम्भ्रम्

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर सबसे प्रामाणिक टीका पतञ्जलि का 'महाभाष्य' है। इसने नौ जालिहों में आचार्य ने व्याकरण के कर्ता की प्रतिभा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पतञ्जलि ने उद्देश्य कात्यायन आदि मध्यवर्ती आचार्यों द्वारा उठाए गए सभी आशेषों की छानबीन नहीं की। जहाँ पाणिनि की वैज्ञानिक धारा एक बार स्पष्ट हो गई, वहीं सबके-सब आशेष आपसे-आप स्पष्ट हो जाते हैं, क्योंकि पाणिनि की वृत्ति एक रन्ने बँधाकरण की न होकर मूलतः एक भाषा-वैज्ञानिक की थी। पतञ्जलि पश-पश पर पाठन को हम सही दृष्टिकोण में अदग्त करते चलते हैं। प्रस्तुत 'अश 'महाभाष्य' के प्रथम आश्रितिक का एक उद्धरण

है। इसमें आचार्य ने इन तीन प्रश्नों को उठाकर इनका समाधान किया है—(१) शब्द क्या है ? (२) व्याकरण के प्रयोजन क्या हैं ? (३) व्याकरण के अध्ययन का तरीका क्या होगा ?

[पृ० ३६] शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासन शब्दशास्त्रम् । अनुशासनम् = छानबीन । पतञ्जलि व्याकरण को शब्दशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस पर दार्शनिक प्रश्न उठा सकता है—‘शब्द’ से आपका अभिप्राय है ? पतञ्जलि ‘गौ’ का उदाहरण देकर एकदम स्पष्ट कर देते हैं कि शब्द सम्पूर्ण वस्तु का ध्वनि-रूप प्रतिनिधि है, मात्र द्रव्य, क्रिया, गूण, आकृति आदि का घातक नहीं।

केषां वैदिकानां च—पारिणि का व्याकरण मुख्यतः संस्कृत भाषा के लिए है और संस्कृत के भी दो रूप हैं—वैदिक और लौकिक। सर्वसाधारण में प्रायः यह आस्था रही है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, अतः वैदिक मन्त्रों अथवा शब्दों की परीक्षा अनधिकार चेष्टा है। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार संस्कृत के ये दोनों ही रूप व्याकरण की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए एक-से स्थल हैं। अब पतञ्जलि लौकिक (संस्कृत) और वैदिक शब्दों के कुछ उदाहरण देते हैं। शं नो वेदीः अभिष्टये—दिव्य गुराँ से युक्त ये जल-घाराएँ (आप.) सब तरह से (अभिष्टये—अभि-+अश्+क्तिन्+ङे) हमारे लिए कल्याणकारी हों। यह अथर्ववेद का मन्त्र है। इषे त्वा ऊर्जे त्वा—मैं अन्न के लिए, वल के लिए तेरी उपासना करता हूँ। यह यजुर्वेद का मन्त्र है। अग्निम् ईडे पुरोहितम्—मैं एक अग्नि की ही उपासना करता हूँ, मेरा पुरोहित (ऋत्विक्, होता सब कुछ) वही है। यह ऋग्वेद का मन्त्र है। अग्नि आ याहि वीतये—हे अग्नि, आओ और हमारे इन उपहारों का रस लो (वीतये=रसास्वादाय)। यह सामवेद का मन्त्र है।
अथ गौः इत्यत्र कः शब्दः—‘गौ’ इसमें आप किसे शब्द मानते हैं ? किं यत्तत्—पया जो गलकम्बल (सास्ता), पूँछ, कूबड़, चुर, सींग-वाला पदार्थ है, वही शब्द है ? नेत्याह—पतञ्जलि उत्तर देते हैं—नहीं, इसे द्रव्य (वस्तु) कहते हैं, शब्द नहीं। यत्तहि—तब पया गौ की

चेष्टाधा को, आंख झपकाने आदि को शब्द कहते हैं ? नहीं, यह तो क्रिया है । इङ्गितम् अभिप्रायस्य सूचक शरीरव्यापार । चेष्टित कायपरिस्पन्द । निमित्तितम् अक्षिव्यापार । यत्तर्हि तन् शुक्ल शब्द — तब क्या गपेद, नीला, भूरा, कदूतरी आदि जा गी का रंग होता है, उसे शब्द कहते हैं ? नहीं, यह तो गुण है । यत्तर्हि०—क्या तब सारी गौओं में जो सामान्य गोत्व असा है, उसे शब्द कहते हैं ? नहीं, इसे तो आह्वनि कहते हैं । [पृ० ४०] येन उच्चारितेन०—जिम ध्वनि का उच्चारण होने ही घन्तु का ग्रहण (मम्प्रत्यय=ज्ञान) हो जाता है, उस ध्वनि को शब्द कहते हैं । अथवा०—संसार में भी हम देखते हैं कि जिम ध्वनि से पदार्थ की प्रतीति अथवा बोध होता है, उस शब्द कहते हैं । शब्दकारी अथ भागवक—यह शोर मचानेवाला वच्चा है, यह शोर मचानेवाले बालक के विषय में ही कहा जाता है ।

शब्द की परिभाषा करने के बाद पतञ्जलि शब्दानुशासन (व्याकरण) के पाँच प्रयोजनों को गिनाने हैं—(१) रक्षा—श्रावण-अध्ययन का शी-गणेश सम्भवन वेदों के सही अर्थ को समझने के लिए हुआ था । (२) उद्धार—अनेक स्थलों पर वेद में विभक्ति का लोप और विषय मिलता है, उसकी अनुमान से पूर्ति (उद्धार) भी व्याकरण के विज्ञान द्वारा ही हो सकती है । (३) आगम—पीढ़े परम्परा (आगम) ने भी व्याकरण को ही छद्म वेदान्तों में प्रधानता दी । (४) लघु—व्याकरण माया-विज्ञान का 'शाट कट' (लघु) है । (५) अक्ष-देह—व्याकरण द्वारा ही, उदाहरणतया, यह सदेह दूर हो सकता है कि वहाँ एक ममन्त पद (म्यूलपृथ्वी) स्वर-भेद से बहुव्रीहि है और वहाँ तत्पुरुष ।

सोपागम०—एक व्याकरण ही बना सकता है कि वेद के मन्त्रों में वहाँ कौन-सा वरण संधि आदि के नियम से लुप्त (लोप) है या वहाँ वह उपर में आ गया (आगम) है (यथा, ३), या वहाँ उसका स्पातर (विकार) हो गया है । इस प्रकार व्याकरण ही वेद के सही अर्थ तक पहुँच सकता है । उद्धार०—अनुमान । न सर्व०—अर्थान् वेदा में स्थान-स्थान पर लिङ्ग-व्यय तथा विभक्ति-व्यत्यय (अनियम) दृष्टिगोचर होता है । ते च

अवश्यं...तव्याः—पुरोहित के लिए यह आवश्यक है कि उसे वैदिक मन्त्रों के सही अर्थ का ज्ञान हो। विपरिणमयितव्याः (वि + परि + नम् + णिच् + इद् + तव्य) = अर्थानुसारेण सम्यक् ज्ञातव्याः।

ब्राह्मणेन...व्याकरणम्—ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी प्रलोभन के बिना धर्म का, अर्थात् साङ्गोपाङ्ग वेद का, अध्ययन करे। वेद के छह अंगों में व्याकरण प्रधान है, अतः व्याकरण के अध्ययन से अन्य वेदाङ्गों का अध्ययन सुकर हो जाता है।

लघ्वयम्—व्याकरण के अध्ययन के लिए एक और युक्ति भी दी जा सकती है, वह यह कि शब्दशास्त्र के ज्ञान के लिए इससे सरल और संक्षिप्त कोई अन्य उपाय नहीं।

असन्देहायम्—वाक्य का अर्थ समझने में कभी-कभी सन्देह हो जाता है; उसके निराकरण में व्याकरण ही सहायक हो सकता है। इसका आचार्य एक उदाहरण देते हैं—याज्ञिका...इति—यज्ञ में अग्नि और बहण का नाम लेकर किस प्रकार की गौ का आलम्भन (दलि) किया जाए, इसके सम्बन्ध में यज्ञाचार्यों की उक्ति है—स्थूलपृपती०, अर्थात् वह गौ 'स्थूलपृपती' होनी चाहिए। तस्यां सन्देहः—अब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यहाँ 'स्थूलपृपती' का क्या अर्थ है? क्या यह कि 'स्थूल और पृपती'? अथवा यह कि 'स्थूल पृपतीवाली'? पृपती = पृपत् + ई = लोमवती, रोएँवाली)। तान् न अवैयाकरणः...इति—इसके सही अर्थ पर कोई अवैयाकरण प्रकाश नहीं डाल सकता, क्योंकि उसे स्वर का ज्ञान नहीं। स्वर-प्रक्रिया के नियमानुसार यदि उदात्त स्वर पूर्वपद पर है तो 'स्थूलपृपती' इस समस्त पद का अर्थ बहुव्रीहि के अनुसार (स्थूलानि पृपन्ति यस्याः सा) करना होगा; और यदि स्वर उत्तरपद पर है तो उसका अर्थ तत्पुरुष के अनुसार (स्थूला च पृपती च) करना उचित होगा।

[पृ० ४१] तत्कथं कर्तव्यम्—अब प्रश्न यह उठता है कि शब्दों के अनुशासन (शब्द-परीक्षा) के सम्बन्ध में प्रणाली कौन-सी अपनाई जाए?

(१) क्या मूल (संस्कृत) शब्द का सरलन (उपदेश) ही पर्याप्त होगा ? इसे 'शब्दोपदेश-प्रणाली' कहते हैं। (२) अथवा (=आहोस्वित्) अपशब्दों (=अपभ्रंशों) की तुलनात्मक समीक्षा भी आवश्यक है ? इसे 'अपशब्दोपदेश-प्रणाली' कहते हैं। (३) अथवा मूल शब्द और अपभ्रंश दोनों की साय-साय परीक्षा करनी चाहिए ? इसे 'उभयोपदेश-प्रणाली' या 'प्रतिपदोक्त-शब्दपारायण प्रणाली' कहते हैं। 'उपदेश' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसके अन्तर्गत सरलन, तुलना, समीक्षा आदि का समावेश होता है। पनञ्जनि दूसरी और तीसरी प्रणाली की अनुपपन्नता सिद्ध करके प्रथम प्रणाली को ही समीचीन बताते हैं।

यदि तावत्—उदाहरण के तौर पर यदि शब्दोपदेश-प्रणाली के अनुसार मूल शब्द 'गौ' का सरलन ही पर्याप्त समझा जाए तो स्वभावतः 'गावी', 'गोणी', 'गोना', 'गोपोतिका' आदि 'गौ' शब्द के सभी अपभ्रंश व्याकरण की दृष्टि में अशुद्ध ठहरेंगे। परन्तु इन अपभ्रंशों का प्रयोग भी लोक-व्यवहार में उन्नी प्रकार होता है जिस प्रकार मूल (शुद्ध) शब्दों का। यदि इनके विपरीत अपशब्दोपदेश-प्रणाली को अपनाकर पहले इन सब अपभ्रंशों का संग्रह कर लें तो तुलना द्वारा ही हम मूल 'गौ' शब्द तक पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

किं पुन अत्र ज्याय—अब देखना यही है कि इन दोनों प्रणालियों में मूल (ज्याय) कौन-सी है और क्लिष्ट (गरीमान्) कौन-सी ?

सधुत्वात्—शब्दोपदेश-प्रणाली सरल है, क्योंकि वह लघु (संक्षिप्त) होती है। गरीमान्—अपशब्दोपदेश-प्रणाली क्लिष्ट है, क्योंकि एक ही शब्द के, उदाहरणतः 'गौ' के, अनेकानेक अपभ्रंश या रूपांतर मिलते हैं। इष्टान्वाख्यान खलु अपि भवति—शब्दोपदेश-प्रणाली का एक और नाम यह है कि मूल शब्द (इष्ट) को पकड़ने के पश्चात् उस शब्द का ऐतिहासिक और तमिः विज्ञान (अनु-+आख्यान) भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों में स्वयं स्पष्ट होता चला जाता है।

अनभ्युपाय पाठ—शब्दानुशासन में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न

रूपान्तरों, अपभ्रंशों की पग-पग पर समीक्षा न उचित जँचनी है, न सम्भव ही. (अनन्युपायः) । मरणावर्मा मनुष्यों की बात तो छोड़िए, देवताओं के विषय में भी यह अव्यावहारिक है । इनके विषय में एक क्या आती है (अनुश्रूयते)—वृहस्पति ने इन्द्र को उभयोपदेश-प्रणाली (शब्द तथा उसके हरएक अपभ्रंश की समीक्षा) के अनुसार शब्दानुशासन का पाठ पढ़ाया । हजार वर्ष बीत गए, किन्तु यह पहला पाठ ही समाप्त होने को न आता था । यह स्मरण रहे कि इन्द्र-जैसा विद्यार्थी और वृहस्पति-जैसा आचार्य सामान्य नहीं होता और यह पठन-पाठन हजार वर्ष (वर्ष का मापदण्ड भी पार्थिव न होकर अपौरुषिक था) चलता रहा । पर इन्द्र का अध्ययन-काल समाप्त नहीं हो सका । कि पुनः अद्यत्वे—फिर आज के युग की बात क्या करे । यः सर्वथा...जीवति—कोई बिरला पुरुष बहुत लम्बी आयु जी भी जाए तो यही न कि सौ साल । चतुर्भिः प्रकारैः—किसी विद्या या विज्ञान पर पूर्वाधिकार तब होता है जब (१) उसे सही-सही गुरु-मुख से प्राप्त किया जाए (आगम), (२) फिर उसे मनन द्वारा आत्मसात् किया जाए (स्वाध्याय), (३) इस गृहीत ज्ञान को अध्यापन द्वारा शिष्यों में वितरित किया जाए (प्रवचन), तथा (४) दैनिक जीवन में उसका उपयोग किया जाए (व्यवहार) । (कुछ टीकाकार परम्परा के अनुसार 'व्यवहार' का अर्थ 'यज्ञ-कर्म' ही समझते हैं ।) तत्र च 'स्यात्—अब सोचिए, यदि कोई शिष्य इस उभयोपदेश (अथवा, प्रतिपदोक्त शब्दपारायण) प्रणाली के अनुसार गुरु-मुख से शब्दानुशासन का पाठ पढ़ना शुरू करे तो उसकी सारी आयु इस विद्या के ग्रहण (आगम) में ही बीत जाएगी । तब फिर स्वाध्याय कब होगा ? प्रवचन कब होगा ? और उस विद्या का व्यावहारिक उपयोग कब होगा ? तस्मात्...पाठः—इसलिए शब्द-शब्द पर उसके अपभ्रंश रूपान्तरों की साथ-साथ समीक्षा असम्भव है, अनुपयुक्त है । यह स्थिति ऐसी है जैसे कोई यात्री बीच समुद्र में पड़ जाए और उसे कहीं भोर-छोर न दीखे; शब्दशास्त्र भी इसी प्रकार का एक अनन्त-अपार सागर है ।

७—सत्सेवितः पन्थाः

व्याकरण में जो स्थान पाणिनि और पतञ्जलि का है, वही आयुर्वेद में चरक मुनि का है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के वह प्रमाणभूत आचार्य हैं। वह प्रथम शताब्दी ई० में महाराज कनिष्क के विक्रित्मक थे। 'चरक-संहिता' गद्य में लिखित है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में श्लोक दिए गए हैं। चरक ने शल्य-क्रिया को छोड़कर चिकित्सा के सभी विषया का विवेचन किया है। उनके अनुसार स्वास्थ्य के तीन आश्रय हैं—भोजन, विश्राम और समय। स्वच्छता के उन्होंने कई नियम बनाए हैं तथा पाप को रोग का एक कारण मानते हुए कई धार्मिक और नैतिक उपदेश भी दिए हैं। ८०० ई० में कश्मीर के दृढदल ने 'चरक संहिता' में सशोधन एवं परिवर्धन किया था। इससे काफी पहले ही उसका फारसी में अनुवाद हो चुका था। फारसी से उसे अरबी में अनूदित किया गया।

प्रस्तुत प्रकरण में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी नियमों का निर्देश है। स्वच्छता और शिष्टाचार, सदाचार और आत्म-समय को चरक ने स्वास्थ्य के अंतर्गत रखा है। चरक के बनाए हुए नियमों से तत्कालीन भारतीय समाज की कई विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। उनमें से कई आज भी हमारे बीच माय हैं। चरक की भाषा सरल और गनिमान् है।

[पृ० ४२] सद्बृत्तम्—स्वास्थ्यकर शुभम् आचरणं सद्बृत्तम्, यदनुष्ठानेन शरीरस्य, मनस, दृष्टेश्च स्वास्थ्यं प्राप्नोति नर तत् सद्बृत्तम्। सिद्धः—तपस्वी। अग्निम् उपाचरेत्—अग्नि की सेवा अर्थात् होम करे। ओषधी प्रशस्ता धारयेत्—उत्तम-उत्तम ओषधियाँ धारण करे। (सदा पास रखे, जैसे 'मर्पदगोपचार' बूटी; कस्तूरी आदि)। द्वौ कालौ उपस्पृशेत् (स्नायात्, सध्याम् उपासीत)—दोनों समय स्नान तथा सन्ध्या करे। मला आदध्यात्—गुदा आदि मन-मार्ग तथा पंरो को सदा स्वच्छ रखे। मलायनेषु—मननि सरणमार्गेषु। त्रि सहारयेत्—

पक्ष में (कम-से-कम) तीन बार दाढ़ी-मूँछ (दमश्रु) और सिर के बाल तथा नख कटवाए। पञ्चभिः पञ्चाभिः दिनैः और नखकर्तन च विधेयम् । नित्यम्—प्रतिदिन ऐसे वस्त्र पहने जो स्वच्छ हों, फटे हुए न हों, प्रसन्नमन रहे, सुगन्धि (जैसे इत्र) धारण करे। अनुपहतवासाः—अम्लानवस्त्रः, अत्रुटितवस्त्रो वा ।

साधुवेशः—वेश उत्तम हो, गिण्टजनोचित हो। प्रसाधितकेशः—बालों को (तेल-कधी से) सँवारकर रखे। मूर्ध०—सिर, कान, नाक तथा पैरों में रोज तेल लगाए। पूर्वाभिभाषी—(परस्पर मिलने पर दूसरे के बोलने से) पहले (सत्कारयुक्त वचनों से) बोलने। सुमुखः०—प्रसन्न-मुख रहे। दुर्गण्वभ्युपपत्ता—दुर्गतिपतिताना रक्षिता, कठिनार्ई में पड़े हुएों का रक्षक बने। होता—होम करने वाला। यष्टा—यज्ञ करनेवाला। चतुष्पथानां नमस्कर्ता—चौराहो पर नमस्कार करनेवाला। वत्तीनाम् उपहर्ता—बलिबँदवदेव यज्ञ करनेवाला (कुत्ते, रोगी, चाण्डाल आदि के लिए बलि देने वाला)। पितृभ्यः पिण्डदः—पितरों को पिण्ड देनेवाला। काले०—समय पर और हितकर वचन बोलनेवाला, मितभाषी और मधुर वक्ता। वदयात्मा—जिसने अपनी इन्द्रियोंको वश में कर रखा है। हेतावीर्षुः (हेती ईर्षुः) फले नेर्षुः (फले न ईर्षुः)—श्रेष्ठ कर्म करने में प्रयत्नशील परन्तु उसके फल की इच्छा न रखनेवाला (तुलना कीजिए—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्व-कर्मणि ॥ गीता २।४७); अथवा, कारण में ईर्ष्या रखनेवाला परन्तु फल में ईर्ष्या न करने वाला; अर्थात् 'अमुक व्यक्ति जिन कर्मों के करने से धनवान् या विद्वान् बना है, वेही कर्म मैं भी करूँ, जिससे कि मैं भी धनवान् या विद्वान् बन जाऊँ', ऐसी इच्छा मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए, किन्तु यह इच्छा नहीं कि 'अमुक व्यक्ति का धन मैं ले लूँ'; इस प्रकार की ईर्ष्या से दूर रहना चाहिए। निश्चिन्तः—जिनके विचार डँबाडोल (चिन्ताकुल) न हों। निर्भक्तिः—भयरहित। धीमान्—बुद्धिमान्। ह्यीमान्—तज्जायुक्त। विनय०—विनय, बुद्धि, विद्या, कुल तथा आयु

मे दृढो तथा सिद्ध आचार्यो वा उपासक (उनका सत्संग करने वाला)।
 धत्री—छात्रा लगानेवाला। दण्डी—दण्ड (दंडा) रखनेवाला। मौली—
 सिर पर पगड़ी, टोपी आदि धारण करनेवाला। उममे ज्ञान होता है कि
 चरक के समय में मिर नगा रखना अच्छा नहीं माना जाता था।
 सोपानक—जूता पहननेवाला। न नग्नचरण चरेत्। युगमात्रदृक्
 विचरेत्—युग (चार हाथ) मात्र दूर तक अपनी दृष्टि रने, अर्थात् चलते
 समय चार हाथ की दूरी का रास्ता देख-भाल कर चने। इसमें ज्यादा
 दूर या कम देखनेवाला ठाकर खाना है। मङ्गलाचारशील—मङ्गल-
 आचारों में तत्पर, उन कर्मकाण्डों का कर्ता जो मागलिक, ऋद्धि-मिद्धि-
 वधन हो। कुचैल०—रेसी जगह न जाए, जहाँ चीथड़े (कुचैल), हड्डी,
 काँटे पड़े हो, जो अपवित्र (अमेध्य) हो, जहाँ केग पड़े हो, तुपो का डेर
 नगा हो, राख पड़ी हो, कपात (टूटे हुए मिट्टी आदि के बने) आदि
 पड़े हो, जहाँ लोग स्नान करते हो (क्योंकि ऐसे स्थलों पर ठोकरें गाने,
 फिमलने आदि का डर रहता है) तथा जहाँ बलि दी जाती हो। प्राक्०—
 पक्कावट होने से पहले ही व्यायाम बन्द कर दे। सर्वं स्यात्—समस्त
 प्राणियों को अपना बन्दु समझे। ऋद्धानाम् अनुनेता—बुद्ध पुरुषों को
 अनुनय-विनय द्वारा समझाने वाला। भीता०—ठरे हुआ को आत्मान
 देनेवाला। दीना०—दीनों का सहारा। सत्यमन्थ—सत्यप्रतिज्ञ।
 सामप्रधान—शान्तियुक्त। परपश्य०—दूसरों के कठोर वचन महने-
 वाला। अमर्षंन—अमहिषगुता या शोध (अमर्ष) का नाशक, अर्थात्
 विनोदप्रिय। प्रशमगुणदर्शी—शान्ति को गुण-मय में देखनेवाला। राग०—
 राग, द्वेष आदि के कारणों का नाशक हो।

न अयस्वम् आदद्यात्—दूसरों के धन का अपहरण न करे। नापस्त्रि-
 यम्—दूसरों की उधमी को न चाहे। न वैर रोचयेत्—वैर में रुचि न रखे।
 न पापे अपि पापी स्यात्—पाप के उपस्थित होने पर भी पापी न हो,
 अथवा पापी के साथ भी पाप न करे, अपकारक के प्रति भी अपकार न
 करे, नाप्यदोषान् श्रूयत्—दूसरों के दोषों को न बहे, दूसरों की निन्दा

न करे । नान्यरहस्य०—दूसरे के रहस्यों को न खोले । नाथानिकैः...
सहासीत...अथानिक और राजद्वेषी लोगों के साथ न बैठे । नोन्मसैः...
दुष्टैः—इसी प्रकार उन्मत्त (पागल), पतित (धर्मभ्रष्ट), भ्रूणहन्ता
(गर्भपात करनेवाले), नीच और दुष्ट पुरुषों के साथ न रहे । [पृ० ४३]
न दुष्टयानानि आरोहेत्—दुष्ट सवारियों पर न बैठे । न आजानु०—
धुटनों से ऊँचे या नीचे आसन पर, जिस पर कुछ विद्या न हो, न बैठे ।
नाना प्रपद्येत्—जिस शय्या (चारपाई आदि) पर विस्तर आदि न
विद्या हो (अनास्तीर्णम्), सिरहाना न लगा हो (अनुपहितम्), जो छोटी
हो (अदिकालम्), या ऊँची-नीची हो (असमम्), उस पर न सोंए ।
न गिरि चरेत्—पहाड़ों की ऊँची-नीची चोटियों पर भ्रमण न करे ।
न जलो०—उग्र वेग वाले जल में स्नान न करे । कूलं नोपासीत—
नदियों के किनारों की छाया में न बैठे, उसके पास न जाए । नाग्नि...
चरेत्—कहीं आग का उत्पात होने पर उसके चारों ओर न घूमे ।
न शब्द मुञ्चेत्—शब्दयुक्त हवा को मुँह से न छोड़े (इससे दूसरों पर
शूक पड़ने का डर रहता है) ; अथवा शब्दयुक्त अपान-वायु को न छोड़े,
अर्थात् अपान-वायु छोड़ते समय ऐसा प्रयत्न करे जिससे शब्द न हो ।
न अर्तयुत प्रवर्तयेत्—जम्हाई, छीक (खाँसी) तथा हँसने के समय मुँह
को हाथ से ढक लेना चाहिए । न नासिकां कुण्ठोयात्—नासिकारन्ध्रों
जङ्गुलि प्रवेश्य नलेन कण्ठयनं च न कार्यम्, नाक को न कुरेदे । न दन्तान्
विघट्टयेत्—दाँतो को न दजाए, अथवा दाँतो को न कुरेदे । न नखान्
घादयेत्—नखों को दजाए नहीं । न हन्यात्—हड्डियों को परस्पर न
टकराए, घर्षण न करे । न भूमि विलिखेत्—जमीन पर (पैर आदि से)
लिखे नहीं । न छिन्द्यात् तृणम्—तिनकों को न तोड़े । न लोष्टं मृद्गी-
यात्—मिट्टी के ढेलों को न तोड़े । न विगुण०—अपने अङ्गों द्वारा
विगुण चेष्टाएँ, बुरी हरकतें न करे । ज्योतीं बोधेत्—अत्यन्त चमक-
वाली ज्योतियों (सूर्य आदि) को, तथा अनिष्टकारी, अपवित्र और
अप्रशस्त वस्तुओं को न देखे । न हं कुर्यात् शवम्—शव (मुर्दे) को देख-

कर घृणा-सूचक हुकार न करे। य शव हु करोति तेन सोमो वह्निरस्मिन्
भवति, इत्यागम । न चैत्य आश्रमेत्—चैत्य (ग्राम अथवा नगर का
प्रधान वृक्ष), ध्वजा, गुरु तथा अन्य पूज्य एवं अप्रशस्ता की छाया को
न लार्थे। न क्षपासु आशेवेत्—रात्रि के समय अमर सदन (देवगृह,
मन्दिर आदि), चैत्य, चत्वर (चौक आंगन, गुली जगह), चतुष्पथ
(चौराहा), उपवन (बाग-बगीचा), श्मशान तथा जाघातन (बध-स्थान)
में निवास न करे। नैक प्रविशेत्—अवेला ही किसी गृह्य-गृह (निजन
या बहुत दिनों में खानी पड़े मकान) में और जगत् में न जाए। न पाप०-
पाप का आचरण करनेवाली स्त्री, मित्र तथा नौकर के साथ न रह।
नोस्मर्त्तुं ०—श्रेष्ठजनो से विरोध न करे। न अवस्तन् उपानीत्—नीचा
के पान न जाए। न जिह्म रोचयेत्—छत्र-द्वय में रहि न रे। न भयम्
उत्पादयेत्—किसी का डराए नहीं और स्वयं भी न डरे। न साहा०—
साहन (सामर्थ्य में बढकर किया गया शारीरिक धर्म), तथा अत्यधिक
सोने, जागने, नहाने और खाने-पीने से बचा रहे। न ऊर्ध्वं निरुद्येत्—
पुटनों का ऊँचा उठाने अर्थात् उकट्टू जानन में देर तक न बैठे।
न व्याला०—मर्प, व्याघ्र, चीना आदि दष्टी (दांतमाने) पशुआ तथा
गाय, बैल, भैंस आदि विषाणो (सींगवाले) पशुआ के समीप न जाए।
पुरो जह्यात्—पुरोवात (पूर्व की वायु अथवा श्रेष्ठ सामने से आनेवाली
वायु), भूप, अग्निपाय (ओस) और अतिप्रवात (जो जी) का भेदन न करे।
कलि नारभेत्—कलहशुभ्र न करे। नाग०—गन्नाघ चित्त हुए बिना हांम
न करे। नोच्छिद्यत् प्रतापयेत्—उच्छिद्यत् (जब शरीर पर जूटन लगी
हो) होकर तथा अग्नि को नीचे रखकर अपने कां न रोके। नाधियत्
उपस्पृशेत्—जब तब थकावट दर न हो जाए तब तक स्नान न करे,
सिर को गीला किए बिना स्नान न करे, नवथा नग्न होकर भी स्नान
न करे। न स्नात् ०—स्नान की घोती में मिर का स्पर्श न करे।
न देशा०—देशों के अग्र भाग को छटकाए नहीं। नोपस्पृश्य विभ्रयात्—
स्नान करके उन्नी (स्नान से पहले धारण किए हुए) वस्त्रों को न पहने,

अथवा जिन वस्त्रों ने स्नान किया है उन्हीको धो-निचोड़कर पुनः गीले ही न पहन ले। वाससी—द्विवचन से अभिप्राय अचोवस्त्र (सँगोटा, जाँधिया) और वनियान से है। अस्पृष्ट्वा—निष्क्रामेत्—रत्न, धृत, पूज्य, मांगलिक द्रव्य, पुष्प आदि का स्पर्श किए बिना घर से बाहर न निकले। न पूज्य०—पूज्य एवं मंगलकारी पदार्थों को दाएँ करके न जाए और न अमंगलकारी पदार्थों को दाएँ करके जाए।

अथ भोजन-नम्बन्धी नियम बताए जाते हैं—अरत्न अन्नम् आदयोत। न अरत्नपाणिः—हाथ में रत्न लिए बिना (भोजन न करे)। न अल्नातः—स्नान किए बिना (भोजन न करे)। इस तरह हर पद के बाद 'भोजन न करे' का अर्थ उष्ट है। उपहतवासाः—फटे वस्त्र पहने हुए। न अजपित्वा—(गायत्री आदि) मन्त्रों के जप के बिना (सन्ध्या किए बिना)। न अहुत्वा देवतान्यः—देवताओं के लिए होम किए बिना। न अनिरूप्य पितृभ्यः—पिता, माता आदि का भोजन कराए बिना। न अदत्त्वा गुरुभ्यः न अतिथिभ्यः न उपाश्रितेभ्यः—गुरु, अतिथि तथा आश्रितों को दिए बिना। [पृ० ४४] न अपुण्यगन्धः—गुम, गन्ध का अनुलेपन किए बिना, न अमाली—माला धारण किए बिना। न अप्रक्षालित०—हाथ, पैर और मुँह धोए बिना। उदङ्मुखः—उत्तर की ओर मुख करके। विमनाः—अन्यत्र मन लगाकर अथवा खिन्न मन से। न अभक्ता०—अभक्त (जो नौकर स्वामी के प्रति प्रीति न रखता हो), अक्षिप्त (नीच, चाण्डाल आदि), अशुचि (अपवित्र) तथा क्षुधित (भूखे) नाफरो से (लाया-पकाया गया भोजन न करे)। पात्रीषु अभेद्ययासु—अपवित्र पात्रों में। अदेशे—अप्रशस्त स्थान पर। अकाले—वैयक्त। व्याकीर्णे—जहाँ लोगों की भीड़-भाड़ हो, या जहाँ बहुत-सी चीजें बिलरी होने के कारण जगह तंग हो। न अदत्त्वा अग्रम् अग्नये—सबसे पहले अग्नि को दिए बिना (इससे भोजन के विषयुक्त होने पर विषयका ज्ञान भी हो सकता है)। न अप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैः—प्रोक्षण जल से सिंचन किए बिना। न मन्त्रैः शनभिमन्त्रितम्—मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित किए

विना । कुत्सपन्—निन्दा करते हुए । कृत्सितम्—निन्दित । प्रतिकूलीप-
हितम्— जो शत्रु द्वारा दिया गया जयवा उत्तडे तरीके से रखा हुआ हो,
या जो अपने शरीर के लिए अनुकूल न हो । आददीत—आ + दा, विधि-
लिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन, मेवने करे । न पर्युषित भक्ष्येभ्य—
मांस, अदरक जादि, सूजे साग, फल एव अय भक्ष्य (लट्ठ आदि)
पदार्थो ऋ सिवा वासी (पर्युषितम्=पूर्वदिनावशिष्टम् गनरात्रिकम्)
भोजन न करे । अयान् ये पदार्थ तो कई दिन पडे रहने पर भी खाए
जा सकने हैं । न अशेष सपिभ्य—दही, शहद, नमक, मत्तू, जल और
घी के अनिरिक्त्वा अय पदार्थो को निशेष न जाए, अर्थात् जितना दिया
जाए उसमें से कुछ बचा दे । न नक्त वधि भुञ्जीत— रात के समय दही न
खाए । न सदनून् एकान् अदनीयात्—मत्तुआ वा एक-एक करके (दाना-
दाना करके) न खाए । न निशि—मत्तू रात में न खाए । भुण्क्वा—
भोजन करके (सत्तू न खाए) । वतून्—अधिन माना में । न उदकात्-
रितान्—खाट, घी अथवा जल के बिना (मत्तू न खाए) । न छिन्वा
द्विजं भक्षयेत्—दानो से काट कर सत्तुओ को न जाए ।

न अनजु शयीत—टेढा होकर न छींके, न जाए और न लेटे ।
क्षुपान्—द्विक्वयेत् । न वेगित स्यात्—(मल-भूत्र आदि का) वेग
होने पर दूमरे काय में न लगे, न लगा रहे । न घामु उत्सृजेत्—
वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, द्विज तथा गुरुओ की ओर मूँठ करने न
धुंके, न अपान वायु छोड़े तथा न मल-भूत्र नरे । न पन्यात्—रान्त
में मूत्र-स्याग न करे । न अनवति मुञ्चेत्—जप होम, अव्ययन
(पाठ), बलि तथा अन्य मागनिक क्रियाओ में क्षपारना ओर नाक साफ
करना उचित नहीं । इनेऽपि सिद्धाणकम्—नामिकाविनि सूतमलम् ।

न सत वदेत्—मत्पुण्यो और गुरुओ की निन्दा न करे । न अशुचि—
अशुद्ध अवस्था में अभिचार-कर्म (मन्त्र-तन्त्र प्रयोग), चैत्य (मन्दिर,
वृक्ष) एव पूज्यो की पूजा तथा पठन-पाठन न करे । अभिनिवर्तयेत्—
अभि + निर् + घृत् + णिच्, विधिलिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

न विद्युत्सु अनार्तवीषु—वेमौसभी विजली चमकने पर। ऋतौ साव्धी इति आर्तवी; सा न भवति इति अनार्तवी, तामु विद्युत्सु। इस तथा वाद के पदों का उन्मन्व अच्ययनम् अभ्यसेत् मे है। न अभ्युदितासु विद्यु—दिशाओं के प्रज्वलित होने पर। न अग्निसम्प्लवे—कहीं आसपास आग लग जाने पर। नहाग्रहोपगमने—सूर्य-ग्रहण या चन्द्र-ग्रहण के समय। नण्डचन्द्रायां तिर्यौ—अमावस के दिन। न अवपतितम्—न लेटकर। न अतिमात्रम्—न अधिक मात्रा में। न तान्तम्—न तौंड-फोड़कर (अर्थात् वाक्य या पद को बहुत लम्बा करके)। न विस्वरम्—न वैसुरा। न अतिबलीवन्—न निर्वीर्य वाणी से।

अतिसमयः—बहुभिः मिलित्वा कृतः नियमः। न नक्तं अदेशे चरम्—रात्रि में या अनुचित स्थान पर न घूमे। न सन्ध्यासु—स्यात्—सन्ध्या-समय भोजन (अभ्यवहार), अध्ययन, स्त्री और निद्रा का मेव न करे। क्लिष्टः—कुण्ठ श्रादि रोगों से पीड़ित। न गुह्यं विदूष्यात्—किसीका भंडाफोड़ न करे, गुप्त बातों को प्रकट न करे। न कञ्चित् अवजानीयात्—किसी की अवज्ञा न करे। [पृ० ४५] न अहंमानी—अहंकार (घमण्ड) न करे। न अदक्षः—कर्मकुशल। न अदक्षिणः—उदारचेता। न अमूयकः—किसी में ईर्ष्या-द्वेष न करे। न गवां दण्डम् उद्यच्छेत्—गौओं पर डंडा न उठाए। गणः—पचायत। न अधिक्रिपेत्—इनकी अवज्ञा या निन्दा न करे। न वान्वद—कुर्यात्—भाई-बन्धु, अनुरागी (प्रेमी), आपत्ति में सहायता करने वाले (कृच्छ्रद्वितीय) और रहस्य जानने वाले (घर की गुप्त बातें जानने वाले) को कभी अपने से अलग न करे।

न अवीरः—वीर्य-रहित न हो। न अत्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्—स्वाभिमान को अहंकार का रूप न दे दे। न अभूतभृत्यः—भृत्यों आदि का पालन करे; अथवा उनकी भृति (वेतन) आदि को न दवा ले। न अतिश्रद्ध-स्वजनः—ऐसा काम न करे, जिससे स्वजन भी विश्वास करना छोड़ दें। नैकः सुखी—अकेला ही सुखी न हो—अपने सुख में दूसरों को भी हिंसा

दे । न कुशीलाचारोपचार — दुर्गचार और दुसचारिया से अपने का दूर रहे ।

सर्वविध्रम्भी—मर्वेषु विश्वासी । न सत्रकालविचारी—हर समय विचारा में ही न हुआ रह । न कायकालम् अतिपातयेन्—काय करने के समय को ऐसे ही न गँवा दे । न अपरीक्षितम् अभिनिविशेत्—अपरीक्षित काय में एरुम न लग जाए । न चञ्चल०—चञ्चल मन को सुना ही न छोड़ दे । न आदध्यात्—गुद्वि और इन्द्रिया (ज्ञानेन्द्रिया) पर अत्यन्त भार न डाल । दीर्घसूत्री—जालसी । न शोकहृषी अनुविदध्यात् (अनु + वि—धा, विविनिङ्) —शोक वा हृष म जाकर आने में बाहर न हो जाए । न शीरुम् अनुसृजेत्—चिरकाल तक शात्र में ही न पड़ा रह । न मिद्वार०—मफन होने पर टपित न हो, न असफन होने पर दुःखी ।

प्रवृत्ति अभिक्षण स्मरेत्—प्रत्येक कार्य करने हुए अपनी प्रवृत्ति (अपनी सीमा, दक्षिण आदि) का निरन्तर ध्यान रहे । हतुप्रभावनिदिधत् स्यात्—रमो का पत्र मिलकर ही गृहा, यह ठेका ध्यान रहे । हेत्या-रम्भनित्य —समस्त कर्मों (आरम्भ) में ध्येय (हेतु) को सदा अपने सामने रखा । न इतम् इत्यादयेत्—काय मयाप्त हो गया तो अब आम्भन न हो जाए, निठाला न रहे । न अपवादम् अनुस्मरेत्—दिली के द्वारा की गई निंदा का स्मरण न करे, अपना शुभ कर्म धारें हुए लोकापवाद में न डरे ।

८—न यत्राग्नि प्रभवति

शायनूर-जन 'जातकमाना' अथवा 'बाधिमत्त्वान्दानमाना' म पञ्च-तन्त्र की तरह उपदेश-प्रदान कराना का सप्रह है । चम्पू-काव्या की भाँति हमें भी गद्य-पद्यमयी भाषा का प्रयोग हुआ है, किन्तु उपदेश-

युक्त होने के कारण जातको को चम्पुओं से पृथक् मान कर नीति-कथा की कोटि में रखा जाता है। जातको में भगवान् बुद्ध के जन्म-जन्मान्तरों की कहानियाँ वर्णित हैं। हर कथा के प्रारम्भ में नीति, उपदेश या शाश्वत सत्य की कोई बात कही जाती है, और इसी के दृष्टान्त-स्वरूप कथा का वर्णन किया जाता है। अन्त में उसी उपदेश की पुनरावृत्ति कर कथा समाप्त की जाती है। जातक-कथाओं के ये सामान्य लक्षण प्रस्तुत कथा पर भी घटित होते हैं।

आर्यभूट के एक ग्रन्थ का ४३४ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। अतः उनका स्थिति-काल ईसा की तीसरी शताब्दी के आस-पान माना जा सकता है। ६७१-६६४ ई० में भारत-भ्रमण करने वाले चीनी पर्यटक ह्वेनसांग का कहना है कि 'जातकमाला' बौद्धों में बड़ी लोकप्रिय है जो उगका बहुत पठन और प्रचार है। अजन्ता और सारनाथ के भित्तिचित्रों में 'जातकमाला' के कतिपय वर्णनों की नक्की देनी जा सकती है। 'जातकमाला' का प्रथम मुद्रणादिन सत्करण १८६१ में अमरीका के हार्वर्ट-विश्वविद्यालय में प्रकाशित हुआ था।

आर्यभूट की भाषा सरल, सग्ल और मनोहर है। गद्य-काव्य के जो लक्षण सुवन्द्य और वाण में जाकर परिपक्व हुए हैं, वे यहाँ सर्वाङ्कित रूप में देखे जा सकते हैं। दीर्घ समासों का प्रयोग होने हुए भी वह विरल और अकिलप्ट है। भाषा का अलङ्कारण मुरुचिपूर्ण है। पद्यों में काव्यत्व और लालित्य है। किशोरो और तरुणों को सत्य, सदाचार, शील और लोकोपकार-जैसं गुण हृदयङ्गम कराने के लिए आर्यभूट की कथाएँ बड़ी रोचक और उपादेय हैं।

प्रस्तुत कथा में एक सरल-स्वभाव वर्तकायोनक (बनख-बच्चे) की कहानी वर्णित है। एक छोटे-से कथानक में कुशल लेखक ने धर्म, सदाचार और आत्मवत्ता की महत्ता अतृप्त उम्र में समझा दी है। बच्चा छोटा है, पर उसमें धर्म-अधर्म का ज्ञान है; उसका शरीर कमजोर है, पर आत्मा मजबूत है। जब लपलपाती दावाग्नि के सामने वह अपनी

विद्वत्ता बालोचित सरलता के साथ रख देता है, तब प्रतिपक्षी का हृदय सहज ही पसीज उठता है ।

[पृ० ४५] सत्य करणीय — मृत्यु ने उज्ज्वल वागी का उल्लापन करने में अग्नि भी असमर्थ है, इस सत्य-वचन में विद्वांस (अभियोग = अभिनिवेश) कीजिए । सत्यपरिभाविनाम्—सत्येन ऋतेन परिभाविता तेजोमयीम् । लक्षयितुं न प्रसहते—अतिश्रमिन् न समर्थ भवति । तद्यथानुधूयते—जैसा कि मुना जाता है—

अरण्यायतने—अरण्यस्य वनस्य जायतन स्थान त्वि मन्, किसी जगल में । धतवापोतक — यन्त्रटकशिगु, दण्ड का बन्धा । स कोप — कतिपयदिवसान्तरिके अण्डमध्यात् निगत, उसे अण्ड से निकले बुद्ध ही दिन हुए थे । प्रविरोध्यमाणनरणपक्ष — प्रविरोध्यमाणी (प्र+वि+रुह्+स्य+शानच्) उपत्यगानी तृणी कोमली पक्षी यस्य स, उसके नरम-नरम पक्ष निकल रहे थे । [पृ० ४६] परि प्रदेश-परिदुष्यत्वात् क्षीण-तया अनक्षयमाणा अदृश्यमाना अज्ञाना प्रत्यङ्गाना च प्रदेशा सन्धि-म्यलानि, वह इतना कमजोर था कि उसके अग्र-प्रत्यगा के जोड़ों का पता ही नहीं चलता था । तृण नीटे—तृणगहन तृणकुञ्ज तेन उपगूढे आच्छन्ने गुम्फिता गहनतरु तस्या सन्निधित रचित नीडे तस्मिन्, वह अपने माता-पिता द्वारा घनी झाड़ियों के बीच प्रयत्नपूर्वक रचे गए घोंसले में अपने बहूत-ने (सम्बहूलं = बहुसह्यवं) नाट्यों के साथ रहता था । तथैवस्योर्षि—उस दगा में भी, पक्षी-योनि में जा पढ़ने पर भी । उपरि-प्लुतधर्मसङ्ख्यात्—धर्म का ज्ञान लुप्त न होने के कारण । उपहतान्—लाए गए । प्राणिन — कीटादीन् । अम्यवहर्तुम्—गादिषुम् । ग्यघोष-वट । उपहतु (उप+हृ+विट्) लाते थे । बांदाभास—जीवन-वृत्ति चकार, घासों के बीज और बरगद के फल आदि जो कुछ उसके माता-पिता लाते थे, उन्हीं से वह अपना निर्वाह करता था । दृक्षान्पहार-तया—दृखा और घोडा भोजन करने के कारण । काय — शरीरम् । न पुष्टिम् उपपयो—हृष्ट-मुष्ट नहीं हुआ । नापि पशोः—और न उसके

बंध ही भली भाँति उगे । प्रविशरोहतुः—प्र + वि + रूह्, लिट् प्रथम-
पुरुष द्विवचन । ययोप०—जो कुछ भी आहार लाया जाता उसे । अम्य-
बहरन्तः—खादन्तः । धर्मता हि एषा—वह तो (शरीर का) धर्म ही है
कि पीष्टिक भोजन करने पर वह पुष्ट होगा) यदुत—क्योंकि—

धर्माधर्म०—अर्थात् धर्म और अधर्म का विचार न करके सब कुछ
खानेवाला (सर्वाशी) व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट रहता है (सुखम् एधते), किन्तु
धर्म की ओर प्रवृत्ति रखकर चुनी हुई चीजें खानेवाला (विचिताशी)
व्यक्ति ससार में दुःखी रहता है ।

ह्रीमता०—सदाचारी (शुचिगवेपिणा), निर्दोष माधनो में आजी-
विका चलानेवाला (शुद्धाजीवेन जीवता), नियमित जीवन बितानेवाला
(संकीर्ण), धर्मभीरु (अप्रगल्भेन) तथा मकोन्धीन (ह्रीमता) व्यक्ति
के लिए ससार में जीवन-यापन करना कठिन (दुर्जीवम्) हो जाता है ।

वनदावः—वनप्रह्लिः, दावाग्नि । प्रति निन्दः—प्रतिभय मभयं
प्रसपतः निन्द. अन्व. यम्य मः, जिसका शब्द डरावना था । विजृम्माण-
धूमराशिः—विजृम्माणा विमर्षमाणा धूमराशिः यम्य मः, जिसमें धुएँ के
अम्बार उठ रहे थे ।

विकीर्यं स्फुल्लिगः—विकीर्यमाणा प्रसरन्त्य वाज्जालावल्लय. तासु
लोला चञ्चला विस्फुलिङ्गा. अग्निकणा यम्य मः, जिसकी फँलती हुई
लपटें चिनगारियाँ घरसा रही थी । सन्त्रासनः वनचराणाम्—वन में
रहनेवाले जीवों को डरस्त करनेवाला । अनयः (अरक्षकं भक्षकं) वन-
गह्वरानाम्—घने जंगलों को निगलनेवाला ।

भयद्रुतो०—मुख्य वायव्य है, तत् वनं आत्येव भृशं ररास—वह वन
सतनी पीड़ा के कारण (आर्त्या इव—दाहजनितप्लेथेन इव) जोर-जोर से
विलाप करने लगा । धेप शब्द वनम् के विशेषण हैं । सपन्तात्—सब
ओर से । भयं सार्थम्—भयेन द्रुता पलायिता. उद्भ्रान्ताः सोद्वेगाः
विहङ्गसार्थाः पक्षिसमूहाः यस्मिन् तत्, जिसमें डर के मारे पक्षियों के
समूह उद्विग्न होकर सब ओर भाग रहे थे । परिभ्रमन्तः—परिभ्रमन्तः

परित धावन् भीता च मृगा हरिणादय यस्मिन् तत्, जिममे भयभीत
 हिन्न चारो ओर दौड रहे थे । धूमोघमग्नम्—धूमोघे धूमपटते मग्नम्,
 जो धुए के समूह में डूब गया था । पटुवह्निशब्दम्—पटु महान् वह्नि-
 शब्द दावान्तध्वनि यत्र तन्, जिममे दावानत की जार-जोर से आवाज
 हो रही थी । ररास (रस + शिट्) — शब्द चकार, विलताप डब इति भाव ।

पटुना सारी—घने घास का अनुसरण करती हुई आग, जिसे मानो
 तत्र दृवा गदेड रही थी । उत्पीड्यमान (उत् + पीड् + णिच् +
 जानच्) — विद्राविन । भयविरसव्याकुलादराधा — भय ने व्याकुल
 होने के कारण जो तुरी नरह चीन्हा रह गई । परस्परनिरपेक्षा — एक-दूसरे
 की परवाह न करने हुए । समुपेतु — उड गए । असम्भ्रान्त — बिना घब-
 राए हुए । निदिता० — जिसे अपने प्रभाव का बोध था । महादृश्य —
 निदर्श (जातशित्) शक्ति महान् थी । [पृष्ठ ४७] सरभसम् इव उप-
 संपन्तम्—जो माना तेजी से जा बट रहा था । व्यर्थाभिघ्रातचरण —
 व्यर्था गिरी व्यर्था चरणां पादा यस्य स, चरितुम् असमवत्त्वान्,
 मेरे शोना पैर के कारण ह । अत्रिरूपज्ञ — चरितुं अग्रन्टी पदो यस्य स,
 चरितुम् प्रमान रूप०, मर दोनो पद जो नहीं हैं । त्वत् सम्भ्रमात्—
 त्वत् उतामभकार, तुम्हारे भय में । प्रदीर्घा—उद्गीय वराण्डि गनी, वही
 उड गए ह । त्वजोष०—तुम्हारा आतिथ्य करने योग्य (तुम्हारे मजप
 करने योग्य) पता कुट भी नहीं है । अस्मात्०—उमरिा के अति, तुम्हारा
 क्या में तोट जाना ही उचित है ।

धियुक्तं वक्षे—विमुष्कानि जनाद्राणि समवतानि सान्द्राणि तृणानि
 यत्र तस्मिन् अति तदा शुक्लपनममहे, मूने जोर घातवाने उग म्यात
 म भी । उदीयमाण (तत् + उद् + जानच्) — पूर्ण विद्यमान, इस से
 बढ़ता जाने पर भी । नदीमित्र०—बह जाने (बोधिसत्त्व-रूपी) उस
 वनम-यच्छ की याणी सुनकर उभी क्षण प्रान्त हो गई, माना वह याद-
 वानी किन्हीं नदी तत्र पहुँच गई हों । विवृद्धतोयाम्—तीरानि जलजगाम्,
 तिनका पानी तिनारा में ऊपर चट आया हो ।

अद्यापि०—आज भी हवा में परिवर्धित लपटोवाला दावानि हिमालय के उस प्रसिद्ध स्थान तक पहुँचकर, मन्त्र में गापित अनेक सिरोवाले साँप के समान, संकोच के कारण, अपनी चञ्चल लपटो को शिथिल कर जान्त होता जा रहा है । सङ्कोच०—सङ्कोचेन अवरोधेन मन्त्रं शिथिलं लुण्ठितम् अल्पीभूतम् अचि. ज्वाला यस्य सः ।

तत् किमिदम् उपनीतम्—यह क्या हो गया ? वैलानिव०—जैसे उफनती हुई नहरों-रुधिरां फनोंवाला समुद्र तट का नदी लाँघ सकता, प्रचलिताः ऊर्मयः तरङ्गाः एव फणा जिरासि यस्य स । जिज्ञान्०—जैसे कोई सत्यवादी बोधिसत्त्व द्वारा दी गई शिक्षा का उल्लंघन नहीं कर सकता । सत्यात्मना कृशानुरपि—वैसे ही अग्नि भी सत्य पर दृढ़ रहनेवालों की आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ हो गया । सत्यम्, अतः न जह्यात्—इसलिए सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए ।

६—दारगुणाः

‘दशकुमारचरित’ से लिये गए इस ‘गोमिनी-वृत्तान्त’ में एक आदर्श गृहिणी की उन विशेषताओं पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है, जो आज भी हमारे समाज में समादृत हैं । अम-प्रत्यग का नैसर्गिक लावण्य, पाक-कला-प्रवीणता, कुशल गृह-प्रबन्ध तथा, सबसे अधिक, पति के दोषों का उपेक्षा बीर उमीके प्रिय एवं हित की चिन्ता भारतीय पत्नी के विशिष्ट गुण है । सब तो यह है कि उनके गुण-निर्भर हृदय ने पति के अवगुणों के लिए स्थान ही कहाँ है—गुणनिर्भरे सम हृदये तव दोषा न भान्ति ।

पण्डितकुमार नामक एक धनी नवयुवक नुरावती पत्नी की खोज में निरत पड़ता है । चतुर पत्नी की उसने एक विचित्र कर्सादी बना रखी है । केवल एक दुमारीका उस कर्सादी पर गरी उत्तरती है । थोड़े-से

धान से ही वह कुशलतापूर्वक उसके लिए अनेक व्यजनयुक्त सुम्बाहु भोजन तैयार कर देती है। अपने शिष्टाचार, साफ-सुथरेपन और अद्विजित सौन्दर्य से उसे मुग्ध कर देती है तथा विवाह के बाद, उसके कुपयगामी होने पर भी, अपनी अविचल निष्ठा द्वारा पुन उसका हृदय जीत लेती है। दण्डी की पद-लालित्यमयी शैली में इस मनोहर कथा का प्रभाव टिङ्गित हो जाता है।

[पृ० ४६] द्विडोषु—कावेरी के दक्षिण-पूर्व में स्थित समुद्र-तटवर्ती भू-भाग। काञ्ची—जाधुनिक काजीवरम। अनेककोटिसार—बहुकोटि-संख्यक, जिसके पास करोड़ों मण रेतें। श्रेष्ठिपुत्र—मेठ का लटका, वशिष्-पुत्र। देशीय—शब्द के अन्त में इस प्रत्यय का प्रयोग 'लगभग' या 'बुद्धवम' के अर्थ में किया जाता है। आवेदे—प्राप्तवान्। अदाराणां—अपत्नीनानाम्। 'दार' शब्द नियम पुल्लिङ्ग और बहुवचन है। अननुगुणदाराणाम्—अननुगुणां प्रतिबुला दारा येषा तथाभूतानाम्। सुप्त नाम नास्ति—उन्हे नाम को भी सुप्त नहीं मिलता। 'न गृह गृह-मित्वाद्गृहं हिमो गृहमुच्यते।' पत्नी रा न होना और प्रतिबुल पत्नी का होना दोनों ही बाने दुःख दायी हैं। तत् कथम्०—मो मैं कैसे गुणवती भार्या (पत्नी) प्राप्त करूँ ?

परप्रत्याप्तेषु—परम्य अयस्य प्रत्ययेन विवामेन आहृतेषु सगृहीतेषु परिणीतेषु। यादृच्छिकीम्—श्वेच्छानुरूपाय। सम्पत्तिम्—गुणान्। अनभिसमीक्ष्य—अदृष्ट्वा, जर्षत् दूसरो द्वारा एतद् की गई लटकियो में इष्ट गुणों की सम्भावना न देखकर। कार्त्तिको नाम भूत्या—ज्योतिषी का बाना पहनकर। वस्त्रान्त०—वस्त्रातेन वसनप्राप्तभागेन पिच्छ बद्ध शान्तिप्रत्य घायसमुदाय येन स, वस्त्र के छोर में एक प्रस्थ (एक मेर) साठी के धान बाँधकर। लक्षणा अयम् इति—उसे 'दण्डगण' (ज्योतिषी, शरीर के सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षणों का ज्ञाता) जानकर। या सचीति—जब वह कोई ऐसी लडकी देख पाता, जो उसकी मजानीय और सुलक्षणा होती, तो उसमें कहता। भद्रे हारयि-

तुम्—हे कल्याणी, क्या तुम इन एक प्रस्थ धानो से हमे बढ़िया भोजन खिला सकती हो ? अम्यवहारयितुम्—जावयितुम् । हस्तितावधूतः—कृतोपहासतिरस्कृतः ।

शिविषु—शिवि लोगों के प्रदेश मे । पत्तने—नगरे । सह पितृभ्याम् अवसितमहृद्धिम् (अवसिता नष्टा महती ऋद्धि भूति. यस्या तान्)—माता-पिता के साथ जिसकी सम्पत्ति भी नष्ट हो चुकी थी । अश्रीगं-भवनसारान्—जिसके घर का मूल्यवान् सामान नष्ट हो गया था ; अथवा जिसका केवल एक टूटा-फूटा भकान बच रहा था । विरलभूषणान्—स्वल्पालङ्काराम् । संसवतचक्षुः—आवद्धदृष्टिः, उस पर नजर जमाकर । अतर्कयत्—मनसि विचारयामास । न अतिस्थूलाः—न बहुत मोटे । न अतिकृशाः—न बहुत दुबले । ह्रस्वाः=छोटे । विकटाः—कंकशा., डरावने । मृजायन्तः—मृजा बुद्धिः तद्वन्तः, स्वच्छता से युक्त, साफ-सुयरे । रपततलाङ्गुली (करी का विज्ञेपण)—लाल हृदेलियों और उँगलियों-वाले । यवं लाञ्छिता—जौ, मछली, कमल, कलश आदि कई शुभ आकृतियों से चिह्नित । ये चिह्न धन, सन्तान, सौभाग्य आदि के सूचक होते हैं । समगुल्फसन्धी (अङ्घ्री का विज्ञेपण)—सम और सुडील टखनों और जोड़ोवाले (पैर) । मांसलौ अशिरालौ (पैरों के विज्ञेपण)—जो मांस से भरे हुए हैं तथा जिनकी नसें उभरी हुई नहीं हैं । तनुतर... मण्डलन्—नाभि छोटी-सी और कुछ-कुछ गहरी है । धन...तले (बाहुलते का विज्ञेपण)—धन, धान्य और पुत्र की सूचक रेखाओंवाली हृदेलियों ने युक्त । भूपस्त्वम्=बाहुल्यम् । चिह्नलेखाः—रेखाकाराणि । स्निग्ध... मणौ—स्निग्धाः उदग्नाः कोमलाञ्च नखमणयः ययोः ते, जिसके मणि-तुल्य नख चिकने, उभारदार और कोमल हैं । ऋज्व०—हाथों की उँगलियाँ सीधी (ऋजु), क्रमश. गोल होनेवाली (अनुपूर्ववृत्त) तथा गुलाबी (ताम्र) हैं । संवतांसदेशे—संततो नम्री अंसदेशौ स्कन्धी ययो. सादृशी, कन्धे उचके हुए नहीं, बल्कि ढलवाँ और सुडील हैं । सौकुमार्य-वत्यौ—भुलायन । निमग्नपर्वसन्धी—जिनमें जोड़ों की गाँठें दबी हुई हैं.

दिखाई नहीं देती । तन्वी—पतली । वम्बुवृत्तवन्धुरा—वम्बुवृत्त शसवत्
 वत्ता वर्न्ला वन्धुग नतोनता, गग-जैमी गोन और ऊँची-नीची (धारी-
 दार) । कधरा—धीवा । [पृ० ४६] वृत्तमध्यविभरतरागाघरम् (यह
 और बाद के पद जाननरमलम् के विशेषण है)—जिसके ऐसे गोल-गोल
 होठ ह, जिनमें धीच के म्यान पर ऊपर-नीचे के होंठों का राग (गुलाबी-
 पन जनग-अलग दिखाई पडता है । असक्षिप्तचारघियुकम्—जिसकी
 छोटी भरी-भूरी (जमलिप्त, स्पष्ट दिखाने देनेवाली) और सुन्दर है ।
 आपूर्ण मण्डनम्—आपूर्णा सम्यक् पुष्ट कटिनम् जसिथिल गण्डमण्डल
 कपोलदेग यत्र तादृशम्, जिसके गाल पूरुतया पुष्ट (विकसित) और
 दृढ़ हैं । असङ्ग लतम्—जिसकी लता-जैमी नीह बिना मिली दृई
 (असङ्गत), भुडीहुई (अनुवत्र), वाली (नीच) और चिवनी (स्निग्ध)
 है । जनति नासिकम्—जिसकी नाक जविक बड़ी नहीं (अन्तिप्रोट,
 छोटी है और नित के फून की तरह है । अमित लपम्—जिसकी
 बड़ी-बड़ी (जायत) आँखों में काली (अमित) पुतली के साथ सफेद
 (धवरा) भाग के अन्दर कही-रही लाल (रक्त) डोरे नी पडे दिखाने
 देने हैं, रम तरह उनकी आँखें तीन भागों में युक्त हैं, उन आँखों में
 चमक (भासुर) और नजर में मिटाम (मधुर) है, पुनलियाँ यद्यपि
 जधीर-भी बनी फिरनी हैं, फिर भी उनकी इतक (नचार) में अलमता
 का भाव है । इन्द्रु०—माथा स्वच्छ और सुन्दर है, माना चाद का दुनडा
 किसी में ला रखा हो । इन्द्र पसित =बाओं की रट एक बतार में पटी
 हैं, ये ऐसी मनोहर (रम्य) हैं कि नीलम की शिवा का आभास होता
 है । द्विगुण युगलम्—द्विगुण द्विरानृत यथा तथा कुण्डलितेन कुण्डली-
 कृतेन म्दानेन ईपन्मलितेन नातीकनालेन पद्मवन्तेन ललित सुन्दर लम्ब
 लम्बमान श्रधणपाशयो कर्णपाशयो युगल द्वय यत्र तादृशम्, जिसके
 दोनों सुन्दर कानों में मुखाने, दोहरी लिपटी रमक-नाच लटक रही हैं ।
 अनतिभङ्गुरा—अत्यधिक टेढ़े (धुंधराले) नहीं । बटल—घने ।
 पर्यन्ते अपि अकपिलरुचि—किनारों पर भी भूगपन (फीकापन) नहीं

है। आचामवान्—आचामः दूर्घ्यं तद्वान्, लम्बे। एकैकानिसर्गसमस्तिग्व-
नीलः—प्रत्येक बाल न्याभाविक तीर पर एक-सा चिकना और काला
है। गन्धग्राही—गुग्गन्धयुक्त। नूर्वजकलापः—केशधाराः। सेयम् शीलम्—
ऐसी आकृतिवाली न्यभाव से भी कुरी नद्री होती। तुलना कौजिये—
'न तादृग्ग आकृतिविधोषा गुग्गविरोधिनी भवन्ति।' आसञ्जलि—सकल
भवति, इत्तकी ओर मेरे जन का ख्यान हुआ। उद्बहेयम्—परिखे-
प्यामि, विव्राह कहेंगा। अविमृश्य परम्पराः—जो लोग बिना सोचे-
विचारे कोई काम कर बैठते हैं, उन्हें धार-वार पछताना पड़ता है।
अद्रिनृष्यकारिणाम्—दृष्टकारिणाम्। अनुशयपरम्पराः—पश्चात्तापाः।
पतन्ति—भवन्ति इत्यर्थः। स्तिनधदृष्टिः—स्नेहपूर्ण दृष्टि से। सन्पन्नम्—
नम्पादिनम्, नैवार किया हुआ। अभ्यवहारयितुम्—भोजयितुम्।

सानुदम्—माग्निप्रायम्। आचाम—गृहीत्या। अलिन्प्रोद्देशे—द्वारो-
पान्तप्रदेशं, दरवाजे के पास दरामदे में। सुस्तिपतसंभृष्टे—जो भली भाँति
जल में छिड़का गया तथा झाड़ा-वृष्टार गया था। दत्तपादशौचम्—दत्तन्
अपितं पादशौचं पादप्रक्षालनाथंजनं यत्नं तम्, पैर धोने का जल देकर।
उपावेशयत्—उपवेशितवती, बैठ दिया। वृद्धदासी इति शेषः।
गन्धशालीन्—गन्धयुक्तान् ग्रीहीन्, गुग्गन्धवाले धान। संक्षुद्य—कुट्टयित्वा,
कूटकर, छाँट-फटककर। मात्रया—परिवर्त्य—उनमें से छोड़े धानों को
घाम में डाल दिया और उन्हें लौट-पीटकर (ऊपर-नीचे करके) सुखा
दिया। मात्रया अल्पपरिमाणेन। परिवर्त्य इतत्तनः लब्ध्वात्य। स्थिर—
चकार—पक्की इकतार जगह पर मूलल से उन धानों को धीमे-धीमे
कूटा और धान के दानों को तोड़े बिना (तुर्पः अखण्डैः, अर्थात् ऊपर के
छिलके हटाकर) सावृत्त चावल अलग कर लिए। नालीपूजेन मुसल-
विधेपेण। 'तुर्पः' ने तृतीया का प्रयोग 'पृथक्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतर-
स्याम्' सूत्र के अनुसार हुआ है। तुर्पः अर्थिनः—जिन्हें धान की आवश्यक-
कता रहती है। 'यहाँ 'तुप' में तृतीया विभक्ति लगने का कारण यह है
कि 'अर्थिनः' के योग में इष्ट धन्तु में तृतीया होती है। नूषण—क्षमः

(तुपं का विशेषण) -गहने साफ करने में समर्थ । अलङ्कारशोधनायै
स्वर्णकारास्तुपान् गृह्णन्ति इति प्रसिद्ध । लब्धामि —तन्मृत्यत्वेन
प्राप्तामि । काङ्क्षिणीभिः—कपटिकाभिः, कौडियासे । स्थिर काष्ठानि—
ऐसी लकड़ियाँ जो तनिक बोझिल हो (स्थिरतराणि=सारवर्ति), न
बहुत गौली हो (अनति-आद्राणि) और न बिल्कुल सूखी हुई हो । किञ्चिद्
आद्राणि काष्ठानि भन्द मन्द ज्वलति इति भाव । मितपद्याम् (स्थालीम्
का विशेषण)—म्वल्पपाचिनीम्, निश्चित माप की स्थाली (=पकाने
का बतन, हॉडी आदि), जिसमें नप-तुने चावल रंध सके । उभे शरावे—
मृत्पात्रयुग्मम्, मिट्टी के दो मरवे । आहर=आनय ।

तथाहृते तथा—घास उम भूसी को बेचकर ये सब चीजें ले आई ।
अनति उत्तुखले—(उन चावलको) रसी उत्तली (मडाला), जो ज्यादा
गहरी (निम्न) भी नहीं थी और न बहुत उथली (उत्तान) थी, जिसका
पट (बुझि—आम्यतरभाग) अधिक फंसा (विस्तीर्ण) न था, जो
अर्जुन वृक्ष (कवुभ) की लकड़ा में बनी थी । लोहपत्र मूसले—
मूसल से, जिसके मुँह पर लोह का पत्रा चढा हुआ था, जो समान आकार
वाला था (समसरीर), जिसके बीच के हिस्से का पतलापन (तानव)
साफ दिगई देता था, जो अच्छा फंसा हुआ (व्यापत) और नारी (गुर)
था और जो रंग की लकड़ी का बना था (खादिरेण) । तनोर्भात्र तानवम्-
चतुर भुजम्—तेमें ढग में, जिसमें जल्दी-जल्दी (चतुर=कपल) और
सलीके से (तलित=मुदर) मूसल को ऊपर-नीचे लाने-ले जाने में बाँहें
थक (जायामित) जाती हैं । [५० ५०] उत्क्षेपणम्=उर्ध्वोत्तरणम् ।
अधक्षेपणम्=अधपाननम् । असहृद् अङ्गुलीभिः उद्धृत्य उद्धृत्य
(सञ्चाल्य)—(ढगने हाथ की) उँगलियों से वह उन्हे बार-बार उठाती
(ऊपर-नीचे) करती । अवहृत्य=सम्पिष्य, कूटनर । शूप तण्डुलान—
ऐसे चावल, जिनमें मूष न फटव-कटवकर मिट्टी-ककड़ (कण) और
तिनके (किसाख) अलग कर दिए गए हैं । असहृद् अङ्गु प्रक्षाल्य—
पानी से कई बार धोकर । दत्तचुल्लीपूजा—(अपने घर के चमत् के अनु-

सार) उसने (धान के कुछ दानों से) चूल्हे की पूजा की। वन्यितपञ्च-
 गुणे जले प्राक्षिपत्—अर्थात् चावलों से पाच गुना पानी हाँडी में खीला
 कर (व्यथिते=उर्णाकृते) उसमें वे चावल छोड़कर चूल्हे पर चढ़ा दिए।
 प्रश्लथे तण्डुलेषु—जब चावल गलकर (प्रश्लथ) फूल गए। प्रश्लथाः
 शिथिलाः क्लिन्ना इति यावत् अवयवा येषां तेषु। प्रस्फुरत्सु स्पन्दमानेषु।
 मुकुला नेषु—मुकुलावस्था कठिनभावम् अतिवर्तमानेषु अतिक्रामत्सु,
 चावलों की पहर्ला कड़ी अवस्था को छोड़कर, फूलकर भात बनने पर
 (अर्थात् जब चावलों में कच्चापन न रहा)। संक्षिप्य (मन्दीकृत्य) अनलम्—
 जाँच धाँधी कर दी। उपहितमुखविधानया (स्यात्या का विशेषण)—उप-
 हितं स्थापितं मुखं विधानम् आच्छादनं यस्याः तथा, जिसका मुख (तिरछा)
 ढका हुआ था। अन्तमण्डम् अगालयत्—चावलों का माँड़ हँडिया से पसा-
 कर निकाल दिया। दध्यां च अवघट्ट्य—करझुल से चावलों को चलाकर।
 मात्रया—(अशेन) पारस्यं—उन्हें थोड़ा ऊपर-नीचे करके। समवक्षेषु
 सिक्थेषु—सब चावलों के समान रूप से पककर भात बन जाने पर। अधो-
 मुखीन्—उलटा करके। अर्वात्तच्छिपत्—(अव + स्था + शिच्, लुङ्, प्रथम
 पुरुष एकवचन) अवस्थाभयाभास, रख दिया। इन्धनानि अन्तःसाराणि सम-
 म्बुक्ष्य (आर्द्राकृत्य) प्रशामिताग्नीनि—उन लकड़ियों पर, जिनके अंदर सार-
 भाग मौजूद था, पानी डालकर उनकी आग बुझा दी (प्रशमित)। कृष्णा-
 ज्जारीकृत्य—(उन अघजली लकड़ियों के) कोयले कर लिए। तदथिम्यः
 प्राहिणोत्—जिनको उन कोयलों की आवश्यकता थी, अर्थात् खरीदारों को
 बेचने के लिए (धाय के हाथ) भेज दिया। एभिः दत्त्वा—इन्हें बेचकर
 जो कौड़ियाँ मिले उनसे। आमलकम्—आंवला। चिञ्चा=इमली।
 ययालाभम्—किफायत से।

तथानुष्ठिते च तथा—जब धाय उसके कहने के अनुसार सब चीजें ले
 आईं। द्वित्रान् उपशान् उपपाद्य (सम्पाद्य)—दो-तीन तरह की सज्जियाँ
 पकाईं। उपदशान् व्यञ्जनानि शाकादीनि। आर्द्रगन्तम्—अर्थात् उसने
 कोरे सरसों को गीली दानू पर जमाकर उनमें चावलों का माँड़ भर दिया।

अतिमृदुना शीतलीकृत्य— ताड़ की पत्तियों से बने पत्ते से धीमी-धीमी हवा (अनिल) करके उसे ठंडा कर लिया । सतवणसम्भारम्—नमक-मसाला मिलाकर । दत्त सम्पाद्य—अगारो पर (जीरा, हींग आदि डालने से) उठनेवाली मुग्ध से (मांड की) मुवापिन किया, अर्थात् उममे इनका घोंगार दिया । तदपि कृत्या—उस जाँवने, टमली को खूब वारिक पीसकर (चटनी बनाकर) उसे पमलो की मुग्ध वाला बना लिया (अर्थात् चटनी में से मसालों की कमज-जैदा, गोबी-मोधी महक उठने लगी) । धात्रीमुक्तेन—धात्री सम्प्रेष्य, धाय को भेजकर । अचोदयन्—प्रेरयामास, स्नान के लिए कहलाया । स्नानाय—स्नान कर्तुम् । स्नान-मुद्ध्या—स्वयं स्नान कृत्वा तथा धात्र्या प्रायः महा-धोकर पहले ही तैयार हो गई थी । वह शक्तिनुमार को सिर घोने और मांजिष के लिए आंगना-तेल दे आई । सित्तमूटे—(आदौ सिक्त जलेन आर्द्रकृत पदभान् मृष्ट शोधित तस्मिन्) कुट्टिमे—(बद्धभूमौ गृह्ण्य तरे इत्ययं) फलकः (पीठम) धारह्य—(तत्रोपनिधय)—छिञ्काव के बाद माफ किये हुए पर्दा पर रखे एक पीठे पर बैठ गया । पाण्डु उपरि—जाँगन में लगे केने के पेड़ के कुछ-कुछ पत्ते पर, जिसके (डठल की तरफ था) एक-चौथाई भाग काट दिया गया था (अर्थात् शेषतीन-चौथाई पत्ता धोकर थाली की तरह धिछा दिया गया और उस पर मांड से भरे दूध के दोना नखे रख दिये गए—दत्त शरादह्वयम्) । द्विःशत शोदकस्य—दो भागा अशा शेषा अदलिष्टा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा दूनस्य छिनस्य । आंसम्—वे सरदे पानी में तरधे । अभिमृशन्—हस्तेन स्पृशन्, प्रायः न तरकार (जोयन की प्रतीक्षा में बैठ गया, अनिष्टत्) । सा समुपाहरन्—अर्थात् उम लडकी ने धाय में शक्तिनुमार को कहलाया कि पहले इन मांड को पी लीजिए । समुपा-हृत्—परिवेशितवती । अपर्नं तत्पद्यत्तम्—दूरीकृतमार्गथमा, रास्ते की सारी यज्ञान जाती रही । प्रोक्तं नसकलगात्र—उष्णमटपार्नात्स्वेद-व्यातनिव्विदावयन, गरम-गरम मांड पीने से जिसके मारे थगा में पसीना आ गया था ।

शाल्योदनस्य दूर्वाद्वयं दत्त्वा—इसके बाद उस लडकी ने (उसके जागे) दो करछल साठी का भात परोसा । स्रपम्—दाल, जिसमें स्रपिः मात्राम् कुछ थी पड़ा था । उपजहार—अपितवती । इमम्—शक्तिकुमारम् । दध्ना च ‘‘अभोजयत्—(भात खा चकने पर) लडकी ने उसे (सोंठ, मिर्च, पीपल, तमक, हींग आदि) नुगन्धित द्रव्यों वाला दही, स्रगवदाग् और ठंडा मट्ठा (कालेगय) तथा महकदार और गीतन कांजी (कञ्जिका) परोसी । त्रिजातकं नुगन्धितद्रव्यविशेषः विकृद् वा तेन अववृणितं आनो-
दितं तेन तादृशेन दध्ना । सशेषं एव अन्धसि (अन्ने) असी अकृष्यत्—
थोड़ा भोजन बच ही रहा था कि वह (शक्तिकुमार) नृप ही गया । नवमूङ्गारसम्भृतम् (बारि का विशेषण)—नवे नूतने भृङ्गारे जनपात्र-
विशेषे सम्भृतं पूरितम्, नई (कोरी) मुराही (झारी) में भरा हुआ । अगुरुषूपधूपितम्—अगरु, घूप आदि से सुवासित । अभिनवपाटलाकुसुम-
वासितम्—अभिनवः प्रत्यग्रविकसितैः पाटलाकुसुमै वासितं सुरभीकृतम्,
ताजे पाटल के फूलों से सुगन्धित । [प० ५१] उत्कृल्लोत्पलप्रयितत्तौरभम्—
जिसमें खिले हुए कमलों की-सी महक उठ रही थी । नालीधारात्मना—
नृङ्गारस्य जलनिर्गमनमार्गः नाली सन्ध्या धारात्मना धारारूपेण, मुराही
में लगी टोंटी से धार बाँधकर (सरवे में) पानी डाला । मुञ्जोपहित-
धारावेण—सरवे में मूँह लगाकर । हिम पञ्जमा—हिमवत् तृपारवत्
शिगिरैः शीतलैः कर्णैः जलविन्दुभिः करालितानि व्याप्तानि अस्पृश्यमानानि
रक्तीभूतानि अक्षिपदमाणि नेत्ररोमाणि यस्य तादृशः, बरफ-जैसे ठंडे
पानी के छीटों से जिसकी बाँखों की बरौभियाँ लाल पल गई थीं ।
धारा ‘‘श्रवणः—सरवे से पानी की धार के गिरने का शब्द उसके
कानों को बढ़ा प्यारा लग रहा था । स्वर्ग ‘‘कपोलः—अर्थात् मुँह पर
पानी के जो छींटे पड़ते, उनका स्वर्ग शक्तिकुमार के लिए इतना सुखप्रद
हुआ कि उसके गालों के रोँ खड़े हो गए, जिसने अपना चेहरा कर्कश
(खुरखुरा) हो गया । परिमल ‘‘रन्ध्रः—नासी में से गइरी निकलनेवाली
(प्रवालौत्पीड) महक से नूने (घ्राण-रन्ध्र) खूब तर हो गए । मायुर्ध ‘‘

रसनेन्द्रिय — (पानी में) मिठास की अधिकता से उसकी भीन दबीभूत (आर्वाजित) हो गई । अरुद्रम् = निमग्नम् । आकण्ठम् — जी भरकर । शिर बम्पमजावारिता — (शक्तिकुमार द्वारा) शिर हिलाकर (कन्या की) एक जाने का इशारा करने पर । पुनरपर० — लग्नी ते दूगरी सुराही (करवेण) से उसे बुना करवाया । वृद्धया तु० — इस समय तब बूढ़ी घायने जूठन साफ कर दी (अपोह्य = दूरीकृत्य) । हरित कुट्टिमे — ताजे गोबर से निपकण पर । स्वमेव = स्वर्ग्यमव । उत्तरीयः पटम् = उत्तरीय-बदनम् । ध्यवधाय = धार्म्याय, निद्राकर ।

विधवद् उपयम्य — विधिपूर्वक विवाह करके । तिथे — स्वगृह नीतवान् । एतद् अनपेक्ष — (भाया के प्रति) उदात्तान हो गया । गणिताम्-वेद्याम् । अक्षरीम् = पत्नीम् । उपाचरत् — व्यवहार किया । मुस्त-तन्द्रा — आलस्यरहिता । पर्यचरत् — सेवा करता रहा । अहोनिम् — मुचार । धन्वत्तच्छत् — सम्पादयामास । दक्षिण्यनिधि — चतुरता की खान । परिजनम् — नौकर-चाकरों को । तदापत्तम् — तरया अर्धानम् । तदेकापीनजीवेतशरीर — तस्या एवमथा अर्धानम् आयत्त जीवित प्राणा शरीर च यस्य तादृश । त्रिवर्गं निविधेत् — त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) को पा लिया । गृहिण गुणा — गृहस्थस्य प्रिय हित च कर्तुं दारुणा पत्नीगुणा भवति, पत्नी के गुण गृहस्थ का प्रिय और हित करने के लिए ही होते हैं ।

प्रस्तुत दृष्टान्त से तत्कालीन समाज के कुछ रीति-रिवाजों पर भी प्रकाश पड़ता है—(१) वशिष्-वर्ग में पुरुषों के लिए १८ वर्ष की आयु विवाह-योग्य मानी जाती थी । विवाह सजातीयों में होता था । बच्चा चुनाव प्रायः अभिभावक करते थे, पर कभी-कभी घर स्वयं भी करता था । (२) विवाह-योग्य कन्याओं के भविष्य-निर्णय में ज्योतिषियों के महत्त्व पर भी इस कथा में प्रकाश पड़ता है । (३) प्रार्थना भाग्य में स्त्री-सौन्दर्य के क्या मानदण्ड थे और कौसी कन्या सुखलक्षणकी मानी जाती थी, यह दण्डी ने मुक्त भाव से बताया है । (४) कन्याओं का सौन्दर्य प्रायः निरावरण हुआ करता था । (५) पार-कला-नैपुण्य विद्वान्-मुन्य कुमारि-

काशों का अपेक्षित गुरु माना जाता था । (६) कन्याएँ अजनवियों से वातचीत नहीं करती थी । (७) धान से चावल अलग करने, भात पकाने, चावल के माँड का एक स्वादिष्ट पेय बनाने आदि क्रियाओं की इस आख्यान से जानकारी मिलती है । (८) रसोई में स्थाली, शराब और दही धनिवार्य पात्र थे । (९) स्नान में तैल, आँचला आदि का व्यवहार किया जाता था । (१०) भोजन के व्यंजनों में भात, नमक-मिला माँड, घी, दाल (सूप), त्रिजातक-युक्त (मसालेदार) दही, दो-तीन उपदंश (साथ लगाकर खाने की चीजे), शाक, इमली, कांजी, महु, और ब्राँवले की चटनी उल्लिखित हैं । मछली, मिठाई और दूध का उल्लेख नहीं है । (११) शौचन करने का क्रम भी दर्शनीय है । (१२) कौड़ियाँ (काकिणी) सिक्कों के रूप में प्रचलित थी । वह रास्तेपन का जमाना था । धान के छिलके और अन्नजली लकड़ियों के कोयले सुतारों को बेचे जा सकते थे ।

१०—प्रणम्या दूरतः खलाः

प्रस्तुत गद्यांश चुवन्धु की 'वासवदत्ता' का एक अपेक्षाकृत सरल स्थल है, फिर भी यह उनकी श्लेष एवं विरोधाभास-प्रधान शैली का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता है । इसमें प्रारम्भ से अन्त तक प्रायः प्रत्येक पद में चमत्कार है, पाण्डित्य है, असाधारण कल्पना है, सूक्ष्म दृष्टि है तथा व्यापक अनुभव का सारभूत वर्णन है । इस गद्यांश के वाक्य छोटे-छोटे हैं, पर उन्हें पूर्णतया समझने के लिए परिश्रम और पौराणिक ज्ञान की अपेक्षा है । दुष्टों के स्वभाव का वर्णन करने के माध-साध चुवन्धु पाठक का परिचय अनुभूती ज्ञानवर्धक बातों से करा देते हैं । चुवन्धु का यह कौशल संरक्षित-वैश्या भाषा में ही सम्भव हो सकता था, क्योंकि

नानाथ-बोधक शब्दों की जैसी समृद्धि संस्कृत में पाई जाती है, वैसी किसी अन्य भाषा में नहीं। संस्कृत में शब्द-लाघव की जो विशेषता दीक्ष पढ़ती है, उसका भी यह मद्यस अच्छा उदाहरण है। गुण-धु के छोटे-छोटे वाक्यों की समझाने के लिए काफी लम्बी व्याख्या की आवश्यकता होती है। यह सत्य है कि श्लेष के अतिशय प्रयोग से सरसता कम हो जाती है तथा वक्ष्य विषय की रूपरेखा अस्पष्ट होने लगती है, तथापि इस विशिष्ट शैली की गहरी छाप पाठक के हृदय पर पड़े बिना नहीं रहती।

जब राजकुमार कर्पणकेतु स्वप्न में राजकुमारी वासवदत्ता के सम्मोहक सौंदर्य को देखकर भ्रात-मा हो जाता है, तब उसका मित्र मकरन्द उसे सचेत करने के लिए दुजनों के आचरण का इन शब्दों में विशद चित्रण करता है।

[पृ० ५१] अनिष्टो हृदयम्—दुष्ट वा हृदय (दूसरों का) धहित करने में तृप्ति का अनुभव करता है, अनिष्टस्य उद्भावे उत्पादने यस्मिन् तृप्तिं प्रीतिर्वा तस्मिन् उत्तरं प्रवणम् । को समयं—उसकी असलियत का कौन पता लगा सकता है ? तथाहि—उदाहरणार्थं । इसके बाद विरोधाभास-युक्त द्विष्ट पदावली आरम्भ होती है । भीमो नवक-द्वेषी—इस पद का प्रकट अर्थ यह हुआ कि दुष्ट व्यवित 'भीमसेन' होते हुए भी नवक का द्वेषी नहीं है । यह परस्पर-विरोधा कथन है, क्योंकि भीम ने वन राक्षस का वध किया था, अतः उसका सगत अर्थ यह होगा कि 'दुष्ट पुरुष भयंकर (भीम) और सज्जनों (नवक) से द्वेष करने-वाला होता है' । भीम = (१) भीमसेन, (२) भयंकर । नवकद्वेषी—(१) वक्ष्य वनासुरस्य द्वेषी द्वेष्यात्, (२) नव सौम्य क मन आत्मा वा येषां ते नवका सज्जना तान् द्वेष्यति । आथ रिश्व—वह अग्नि होते हुए भी वायु है, अर्थात् अपन आश्रयदाता को नाश करनेवाला तथा माना के प्रति भी वृत्ता बन जाता है (वृत्ते-जैसा क्रूर या अनुचित आचरण करनेवाला बन जाता है) । आथयाश—(१) आश्रय स्वाधार-भूत काष्ठादिवम् अदभानि भक्षयति स आथयाश वह्नि, (२) आश्रय-

नाशकः । मातरिश्वा = (१) मातरि आकाशे इत्यति गच्छति इति मात-
रिश्वा वायुः; (२) मातरि जनन्या स्वपोषके स्वा कुक्कुरः तद्वत् क्रूरः
अनुचिताचरण. वा । अति रसः—बहु अत्यन्त कडवा होते हुए भी
मधुर होता है, अर्थात् अनेक अनुचित कार्य करनेवाला और बड़ा धरसिक
होता है । अतिकटुः = (१) कटुरसविशिष्टः; (२) अकार्यबहुलः;
अत्यन्त मत्सरी, दूषणयुक्तः वा । महारसः = (१) महान् अतिमिष्टः
रस. अस्य इति महारस, इधु, (२) महान् अरसः अक्स वा, रलयोः
अभेदात् । सर्पपः जहाति—दुष्ट पुरुष, दोनों हाथ जोड़ने पर भी
तथा (पैरो में) सिर रखने पर भी, अपनी क्रूरता नहीं छोड़ता, जैसे
सरसों का तेल, दोनों हाथों से मले जाने पर भी और सिर पर लगाने
पर भी अपना कडवापन नहीं छोड़ता । करयुगलालितः = (१) कर-
युगेन हस्तयुगेन पालित पूजित (दुष्ट के साथ); (२) ल.लिः
स्पृष्टः (सर्पपन्नेह, सरसों के तेल के साथ) । कटुत्वन् = (१) क्रूरताम्,
(२) कटुरसत्वम् । ताल तिवत्त्वच—दुष्ट पुरुष (परिचय के) आरम्भ
में मधुर किन्तु अन्त में नीरस और तीखा (तीव्र-स्वभाव) होता है,
जैसे ताल-फल (ताड़ी) चखते ही भीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्त में
नीरस और ताजा हो जाता है । आपातमधुरः = (१) आपाते तदात्वे
परिचयारम्भे मधुर मृदुञ्चनहार (दुष्ट के साथ); (२) आपाते पान-
समये मधुर. मिष्ट. (तालफल के साथ) । परिणामविरसः = (१)
परिणामे अति विरसः नीरस (दुष्ट के साथ); (२) परिणामे अवसाने
परिपाके विरस. मदजनकत्वात् (तालफल के साथ) । [५० ५२] पादप-
कपाययति—दुष्ट पुरुष, तिरस्कृत किए जाने पर भी, मन को पीड़ा
पहुँचाता है, जैसे (ऊपर) फेंकी हुई पैर की धूल, उपेक्षा किए जाने पर
भी, मत्सक को गदा कर देती है । पादपरागः = चरणधूलिः । अयधूतः
= (१) उपेक्षित. तिरस्कृतः वा (दुष्ट के साथ); (२) विक्लिप्तः
(धूल के साथ) । कपाययति (कपाय, नामवात्) = पीडयति, क्लुपयति ।
विपतश्च वृडयति—दुर्जन अधिकाधिक सम्पर्क में आने पर अज्ञान ही
प्रकट करता या बढ़ाता है, जैसे विप-वृद्धा का पुष्प जितना अधिक सूँघा.

जाता है उतनी ही अधिक मूर्च्छा जाता है। अनुभूयने—(१) परिधीयते (दृष्ट के साथ), (२) विद्यमाने (पुष्प के साथ)। मोह दृढयति—(१) अज्ञान प्रजाययति (दृष्ट के साथ), (२) मूर्च्छा दृष्ट करोति (पुष्प के साथ)। नीच जायते—दुर्जन पुष्प सभी शक्तियों में रहित नहीं होता, जैसे नीची भूमि में जन का अभाव नहीं होता। न दारिद्रिरह—(१) न दारिद्रिरह शत्रुविरह (पुष्प के साथ), (२) न दारिद्रिरह जनाभाव (निम्न देश के साथ)। निदाघ यति—दुर्जन ईश्वरिण सज्जनो जी श्रद्धा पहुँचाता रहता है, जैसे गर्भों में प्रदुत मन्त्रिययोपाले दिन पुष्पों को सुरक्षा दते हैं। बह्वत्सार—(१) बहु मन्त्र मानयम् ईश्वरिण मन्त्र म (साथ के साथ), (२) बह्वय मन्त्र मन्त्रिका यस्मिन् स (निदाघदिवस के साथ)। सुमन्त्रा सत्ताप वहनि—(१) श्रद्धात-करणाना सज्जनाना मन्त्रा पीडा वहनि जायति (साथ के साथ), पुष्पाणा सत्ताप मन्त्राना वहनि करोति (निदाघदिवस के साथ)। अन्य मोक्षनश्च—दुर्जन पुष्प दूसरों पर दोष लगाने में प्रवृत्त तथा सज्जी आर्क्षविका का नाश करने में उत्था रहता है, जैसे जैवैरा रात्रि ना अनुप्राण करने में घण्टा और मूर्धन को ढकने में तपस रहता है। दोषानुप्राणश्चतुर—दोषानुप्राण अनुप्राणे आरोप्य चतुरे (प्रवृत्तने वा) तुर निपुण (साथ के साथ), दोष सति तन्वा जन्तुने जन्तुस्ती चतुर (जैवैरे के साथ)। विश्व द्या—(१) निदानि मन्त्राणि मन्त्राना शनादानि शर्माणि तेषाम् अत्रोपने परिप्राणे उद्यत तत्पर, यदा निवेपामनि ज्ञानाना यानि शर्माणि तेषान् जन्तुने मानन उद्यत (साथ के साथ), (२) विश्वकर्मा सूर्य तस्य जन्तुपने जाटादने अन्तमत वा उद्यत (जैवैरे के साथ)। रत्न पाश—उद्यत व्यवहार (या ज्ञान) विपरीत जाता है, जैसे त्रिलोचन शंकर के नेत्र विविध-रूप (रश्मि, चन्द्र और अग्नि-रूप) होते हैं (अथवा जैसे शिव विन्धो पर, कृष्णो पर भी कृपा-दृष्टि रखते हैं)। विरूपत—(१) विरूप विपरीत अज्ञान व्यवहार वा शरय म (साथ के साथ), (२) विविधानि रत्नचन्द्राग्निरूपानि ज्ञानानि नेनाणि यस्य स, विन्धेप्

अपि अक्षि कृपादृष्टिः यस्य इति वा (रुद्र के साथ) । विष्णु धरः—
 वह चक्रवर्ती विष्णु के समान कपट-व्यवहार में तत्पर रहता है ।
 चक्रधरः—(१) चक्रं दम्भविशेषः तस्य धरः धारकः (खल के साथ) ;
 (२) चक्रं चक्रायुधं तस्य धरः (विष्णु के साथ) । शक्राश्च शंती च—
 वह समुद्र में उत्पन्न तथा प्रगंक्षनीय उर्ध्वःश्रवा नामक इन्द्र के घोड़े के
 समान उर्ध्वःश्रवा (दूमरों का काम मुनने में बहुरा) बन जाता है तथा
 कभी भी अपने देववासी लोगों की प्रगंक्षा नहीं करता । उर्ध्वःश्रवाः—
 (१) उर्ध्वं अधिकं श्रवः श्रवणं यस्य सः तयोवनः ; परकीयानापश्रवणौ
 तत्परः इत्यर्थः ; परकीयकार्यश्रवणौ श्रवणः इति वा (खल के साथ) ; (२)
 उर्ध्वःश्रवा एतन्नामकः घोटकः । नदेशजप्रगंक्षी—(१) देशे स्वजनपदे
 जाताः देशजाः तान् प्रजनिनु शीलम् अस्य इति देशजप्रगंक्षी, स न भवति ;
 (२) नवानाम् ईशः नदेशः समुद्रः तस्माज्जातः नदेशजः, प्रगंक्षी प्रगंक्षा-
 वान् च । शरस्य विलोचयति—दुर्जन, विलग्न हुए (फिर भी) प्रेम
 प्रदर्शित करने वाले सज्जनों के अन्तःकरण को अलग पहुँचाता रहता है,
 जैसे मयानी, खद मथने के कारण ऊपर धी की बूँदें दिखाई देने पर भी,
 वही को विलोती ही जाती है । विभिन्नस्य—(१) विच्छिन्नसम्बन्धस्य
 (सज्जन के साथ) ; (२) भेदितस्य (वही के साथ) । स्नेहन्—प्रेमा-
 णम् ; घृतम् । शरस्य—दन्तः । हृदयन्—मनः ; मध्यभागम् । विलोच-
 यति—अतितरा संभवति मथ्नाति च । तक्राटः—मन्थनदण्डः । यदा...
 भ्रमणकश्च—दुर्जन आत्म-प्रसङ्गा में तत्पर तथा (व्यर्थ ही) इधर-उधर
 घूमता रहता है, जैसे यज्ञों को दी जानेवाली बलि कौश्यों के दाव से युक्त
 तथा कुत्तों को उधर-उधर (आनयात्) घुमाती है । आत्मघोषमुखरः—
 (१) आत्मघोषेण आत्मस्फुटिण्येन मुखरः बाचालः (दुष्ट के साथ) ;
 (२) आत्मघोषेण कालेन तच्छब्देन मुखरः सजब्दः (यक्षबलि के साथ) ।
 मण्डलभ्रमणकः—(१) मण्डले देशे भ्रमति इति मण्डलभ्रमणः स एव
 मण्डलभ्रमणकः (दुष्ट के साथ) ; (२) मण्डलाः स्वानः तान् भ्रमयति
 इति मण्डलभ्रमणकः (यक्षबलि के साथ) । पिण्डप्राप्तिलोभेन स्वानः बलि-

समीपे परिभ्रमति । मालङ्ग दानश्च—दुष्ट पुरुष अपने चपल मुग को अपने अर्ध न मानता है (अप्य जनो की मनमानी निन्दा करता है) तथा दान का तिरस्कार करता है (कभी दान नहीं करता), जैसे कोई मद-चुआता हार्थी अपनी हथिनी के प्रति चचल-मुख बना रहता है । स्ववशा-भोलुमुखर — (१) स्ववशा स्वाधीनम् आलोल चपल मुग यस्य स (दुष्ट के साथ), (२) स्ववशाया निजवरिण्याम् आलोल स्नेहप्रदर्शनचञ्चल मुख यस्य स (हार्थी के साथ) । अधरीकृतदान — (१) अधरीकृत तिरस्कृत वजितम् इत्यथ दान वितरण येन स (दुष्ट के साथ), (२) अधरीकृतम् अतिवपणावधस्ताकृत प्रच्युत वा दान मदजन यन सं (हार्थी के साथ) । वृषभ विफल — वह (पापाचरण म) देवताओं से भी भयभीत नहीं होता, जैसे सात गौकर्पाट दौड़ने से थक जाता है । गुरानियाद्विगत — (१) गुरानिया न विगत, देवभयेन न विफल विह्वल भीत न (दुष्ट के साथ), (२) गुरामि गा यानेन उपसपरणेन तद् धारणेन वा विकार परिश्रात (वृषभ के साथ) । कामीव रक्षतश्च—दुष्ट अपने कुलोचित आचार से भ्रष्ट होकर उसमें हीन हो जाता है और प्रविष्ट (अनुचित) मार्ग में अरुक्त रहता है, जैसे कामी पुरुष (कामादिग के वाग्ण) कुल का कुल नाम उच्चारण करने से व्याकुल तथा स्त्रियों की रुनामद करने में लीन रहता है । गोत्र धर — (१) गोत्रान वशान् वशाचारात् यत् स्तलन प्रच्युति तेन विधुर हीन (यत् के साथ), (२) गोत्रे नाम्नि मत्स्वनन तस्य व्यतामिन उच्चारण तेन विधुर व्याकुल (कामी के साथ) । परन्विया म जामजन कामीजन भूत स कुटुम्बिया के सामने अपनी परकीय प्रियमी का नाम ले बैठने हैं । वामाध्वानुरक्ष — (१) वामे निपरिते लोकवर्जिते अध्वनि मार्गे वाचारे अनुरक्त तत्पर (यत् के साथ), (२) वामाना स्त्रीणाम् अध्वनि तत्प्रनादनपद्धती अनुरक्त कामिनीपरिचरान्तर (कामी के साथ) । जीर्ण वहनि—दुष्ट पुष्ट दूसरों के मधुर और श्रेष्ठ वचनों के प्रति (द्वेषया) उदासीन हो जाता है (उत्पत्ति प्रशस्त नहीं करता), जैसे पुराला सोपी अक्षर से दुष्ट और

वात करने में असमर्थ हो जाता है। कलेवरे वचसि—(१) कले मधुरे वरे श्रेष्ठे वचसि (खल के साथ); (२) कलेवरं शरीरे वचसि भाषणे (रोगी के साथ)। मन्दिमानमावहति—(१) मन्दिमानम् औदासीन्यं वहति धारयति (खल के साथ); (२) मन्दिमानं कृशतां वहति धारयति। वञ्चकः रक्तश्च—दुर्जनं रिषवत लेने में अनुरक्त होता है तथा विवाद या नीच स्त्रियों से स्नेह रखता है, जैसे गीदड़ श्व-मास का प्रेमी होता है तथा रात को पसन्द करता है। कटपले—(१) उत्कोचे; (२) श्वमासे। विभावरीरपतः—(१) विभावरीयां विवादे, वृष्ट्या कुटिलयोपिति वा, रक्तः स्नेहः (खल के साथ); (२) विभावरीयां रात्री रक्तः (गीदड़ के साथ)। परेत दर्शनः—(१) कुटुम्बी जनो के लिए अदृश्य मृत की तरह दुष्ट व्यक्ति बन्धु-बान्धवों के कष्टों को देखता है (किन्तु उनके निवारण का कोई उपाय नहीं करता)। बन्धुतापदर्शनः—(१) बन्धूनां तापं कष्टं पश्यति इति, तेषां कष्टं दृष्ट्वापि तत्प्रतीकारपरामुखः इत्यर्थः (खल के साथ); (२) बन्धुतायाः बन्धुसमूहस्य अपदर्शनः, बन्धुभिः अदृश्यमानः इत्यर्थः (मृत के साथ)। परशु खण्डयति—दुर्जनं सत्पुरुषों की लक्ष्मी (ऐश्वर्य) का भी नाश कर डालता है, जैसे कुल्हाड़ी चन्दन वृक्ष को भी काट देती है (उसे चन्दन तथा अन्य वृक्षों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता)। भद्राश्रयणम्—भद्राणां साधूनां श्रियं सम्पद्, चन्दन-वृक्षम्। कुदालः निकृन्तति—दुर्जनं अपने कुल का विनाश कर घान्ति-सम्पन्न लोगों को कष्ट पहुँचाता है, जैसे कुदाली भूमि को खोद देती है और पृथ्वी पर के कीड़े-मकोड़ों को काट डालती है। दलितगोत्रः—(१) दलित विनाशितं स्वाचारेण अप्रतिष्ठां नीतं वा गोत्रम् स्ववशः येन सः (दुष्ट के साथ); (२) दलित जाता गोत्रा भूमिः येन सः (कुदाल के साथ) क्षमाभाजः प्राणिनः—शान्तिवृत्तान् ननुष्यान्; भूमिस्त्वान् कीटादीन्। निकृन्तति—क्लिञ्जनाति; छिनत्ति। रतिः साधून्—वह कुत्त की तरह नीच कार्यों में संलग्न होकर सत्पुरुषों को लज्जित करता है। रतिकीलः—दवा। दुष्टः मोदते—(अनेक पापाचरण करने से) दुष्ट जन की मुल-श्री फीकी पड़ जाती

है, तथा वह सकार में पुनः और उठते पड़े जानेवाले 'यवम' (नवयव = मुहूर्त्त) का भी अभिनन्दन नहीं करता, जैसे दुष्ट हाथी वन में जाने की इच्छा से सदा पाम में रहे हुए नृण आदि को भीपमन्द नहीं करता।

शूर्पश्रुति — पवत् प्रति श्रवण यस्य स शूर्पश्रुति गज । वाननरश्चि — (१) का ईषत्कुम्भिता वा जाननरश्चि मुञ्चन्ति यस्य स (खज के साथ), (२) वानने वने रश्चि प्रीति यस्य स (हाथी के साथ) । अनुगतमपि यस्य स ततम् — (१) अद्यात् पश्चान् गत प्राणितोम्येन पठितम्, सतत मेन सतारेण तत व्याप्त पुनतम् इत्यर्थं प्रतिगोमपठिता सतारयुक्तश्च य यम्यश्च सायम उत्साकारन जान गद्वाच्य मुहूर्त्तम् अत्रि इत्यर्थं (दुष्ट के साथ), भाव यह है कि 'यवम' शब्द को उठटा पड़ने में 'नवय' शब्द बनना है और इसमें 'स' जोड़ देने में 'नवयम' शब्द बनना है, जिसका अर्थ 'मुहूर्त्त' होता है, दुष्ट पुरुष 'सवयम' का भी अभिनन्दन नहीं करता, (२) सतत मरुदा अनुगत मौर्येण प्राप्तम् अत्रि यवन तृण नानुमोदते (हाथी के साथ) । अश्रीन अट्कुरा — (सायारणत सतार में अट्टुर प्रीति में ही उत्पन्न होता है और सायथो द्वारा ही बटते देने जाते हैं, किन्तु) दुर्जनो द्वारा उत्पन्न विने गए दुःख-मूर्ख, मवुर विना कारण ही पैदा होने और जनगर विना ही बटने देने जाते हैं। अश्रीगान् — शीज विना, हेतु विना । अवाण्डात् — स्वन्ध विना, अवसर विना । दुपरक्षेप = उन्मत्तमितुम् जननया ।

दोषरत = दुमरा का जरा-सा भी दोष । धरातायवे = नवरर रूप धारण कर लेता है, कराल भीषणम् इव आचरति, भयावह भवति इत्यर्थं । पारद = शरा । मग्जन दूषणों के दोष को तुरन्त भूरा जाते हैं । मृगा साधव — मग्जन मनोरजन की प्रवृत्ति के लक्षण-मात्र भी वन में नहीं होते, जैसे हरिण उस व्यक्ति के वन में नहीं जाते, जो परियों को रिलाले में प्रवीण है (पर मृगों के आलेट में जनभिन्न है) । विनोददिदो = (१) विनोदम्य जालिङ्गनम्य तदाथ-शाङ्गनामिपयनने विट्ट प्रवृत्ति स्वभाव मन्थ (साधव के साथ),

(२) यीनां पक्षिणा नोदः प्रेरण विनोदः तत्र विन्दुः ज्ञाता विनोद-
विन्दुः पक्षिरमणपटुः (मृगा. के साथ) । इस वाक्य का एक और अर्थ
यह भी हो सकता है कि 'विनोदविन्दु (व्याध) के वश में हो जानेवाले
मृगों की तरह सज्जन विनोद के वशीभूत नहीं होते।' हि=किन्तु ।
भवाद्गशाः—तुम्हारे जैसे कामासक्त लोग । हरन्ति—(१) नाशयन्ति
(भवाद्गशाः के साथ) ; (२) जनयन्ति (शरत्समया. के साथ) । मित्र-
मण्डलस्य—(१) सुहृत्समूहस्य (भवाद्गशा के साथ) ; (२) सूर्य-
मण्डलस्य (शरत्समय. के साथ) ; अर्थात् जहाँ तुम-जैसे कुपयगामी अपने
मित्रवर्ग का सुख छीन लेते हैं, वहाँ शरत्काल (मेघादि उपद्रवों का नाश-
कर) सूर्य-मण्डल को सुख पहुँचाता है । मित्रमण्डलस्य हरन्ति (सूर्यस्य
जनयन्ति), शेषत्वविवक्षया पृष्ठी । सचेतनाः—ज्ञानी, विवेकी पुरुष ।
विसङ्गम्—विपरीतम् । अचेतना—निक्षिप्ता—अचेतन जड़ वर्ग भी
योग्य या अनुरूप वस्तुओं के प्रति मित्रता निभाता है । उदाहरणार्थ,
माधुर्य वारिणा क्षीयते—इस वाक्य का भाव यह है कि 'जल और दूध
में मित्रता होती है, क्योंकि एक तो दोनों का एक ही नाम (पय.) है
और दूसरे दोनों में मधुरता, शीतलता, निर्मलता, ताप-निवारण आदि
गुण हैं । साथ ही (दूध में जल का भी अंश होता है और यह) जल दूध
के संसर्ग से ही बहुमूल्य माना जाता है । अतः जब दूध को औटाया
जाता है, तब मित्रभाव से प्रेरित हो जल सोचता है कि पहले मुझे ही
जलना चाहिए, इसीलिए वह नष्ट होता है।' मकरन्द के कहने का
अभिप्राय यह है कि इस प्रकार जब अचेतन वर्ग भी उचित स्थान पर
अपनी मित्रता का परिचय देता है, तब हम सचेतन प्राणी तुम-जैसे अपने
मित्र को नष्ट होते या कुपथ में जाते देखकर अपनी मित्रता का परिचय
क्यों न दे, तुम्हें सत्य पर क्यों न लाएँ ?

११—दहति निदाघो नितराम्

यह श्रीष्म-वर्णन उस समय का है, जब बाण विविध अनुभवों से भरी अपनी यात्रा समाप्त कर मुलपूर्वक घर में रह रहे थे। यहाँ बाण ने कठोर निदाघ-काल का बहुत ही ज्वलन्त चित्र गीचा है। मन्त्र-साहित्य में इसकी जोड़ का दूसरा श्रीष्म-वर्णन नहीं मिलता। इसमें बाण की सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और वर्णन की अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। बाण की मार-गर्भ शैली का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस प्रयोग में कई उल्लेखनीय बातें हैं।

[पृ० ५३] कदाचित् महाकाल — इस वाक्य में उग्र श्रीष्म-ऋतु का भँवर शिव से रूपक बाधा गया है। बुभुभसमययुगम्—बुभुभसमय (वसन्त) एव युग मासद्वयम्। उपमहरन् (उप+सम्+हृ+सत्) — (वसन्त ऋतु का) अन्त करता हुआ। शिव भी प्रलय के समय-युग को समाप्त कर देते हैं। अजृम्मत (जृम् लड्, प्रथमपुरुष, एवञ्चन) — बढ़ने लगा (श्रीष्म के साथ), जमुहार्दनी (शिव के साथ)। श्रीष्माभिधान — श्रीष्म अभिधान नाम यस्य। सम्पुल्ल हास — (१) सम्पुल्लामि उत्पुल्लामि मल्लिकाभि घनला अट्टा विक्रयस्यानानि एव हासा यस्य, अर्थात् जो फूली चमेलियो से स्वेत हुई मटियो के रूप में हँस रहा था (श्रीष्म के साथ), (२) सम्पुल्लमल्लिकावत् घनल अट्ट-हास उद्धत हसित यस्य, अर्थात् जिनकी उद्धत हँसी फूली चमेलियो-जैसी शुभ्र है (शिव के साथ)। भगवान् शिव का जोर से हँसना 'अट्टहास' कहलाता है। चमेली गरमियो में फूलती है। महाकाल — श्रीष्म ऋतु यथा शिव। पूरे वाक्य का अर्थ यों होगा—'तब वसन्त ऋतु का अन्त करता हुआ और फूली हुई चमेलियो से स्वेत बनी मटियो के रूप में हँसता हुआ श्रीष्म नामक भीषण समय बढ़ने लगा, जान पड़ता था मानो भगवान् शिव ही, युगों का अन्त करते हुए चमेलियो-जैसा शुभ्र अट्टहास करते हुए, जमुहार्द से रहे हों।' प्रत्यय अभूत्—अब कवि ने

रूपक बदल दिया है। ग्रीष्म एक विजेता है, जो वसन्त-रूपी सामन्त को हरा देता है, पर हारे हुए शत्रु के वच्चो के प्रति, गुरु-गुरु में, कोमल बना रहता है। वच्चों के रूप में नये उद्यानों की कल्पना की गई है। प्रत्यग्र-निजितस्य—हाल ही में जीते गए। अस्तमुपगतवतः—अस्त हुए। वसन्तः एष सामन्तः तस्य। बालापत्येषु—नन्हें वच्चों के प्रति। पयः-पायिषु—(१) दूध पीनेवाले (बालापत्येषु के साथ); (२) पानी पीने वाली अर्थात् प्यासे (नवोद्यानेषु के साथ)। दग्धितः स्नेहः आर्द्रता प्रीतिर्वा येन। नवोद्यानेषु—नये वर्गीचो पर; बालापत्येषु के विशेषण-रूप में इसका अर्थ होगा 'जिन्होंने अभी-अभी चलना सीखा है', नव उद्यान उद्गमनं येषां तेषु। मृदुः अभूत्—ग्रीष्म ने आते ही वर्गीचो को जूनता नहीं दिया; आरम्भ में वह अकठोर था। पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ—'तत्काल जीते गए और समाप्त हुए वसन्त के नये प्यासे वाग-वर्गीचों के प्रति स्नेह (आर्द्रता) दिखाते हुए (ग्रीष्म आरम्भ में) कोमल ही बना रहा, वैसे ही जैसे (कोई विजेता) हाल ही में विजित और अस्तगत (निस्तेज) सामन्त के दुबर्मुँहे नन्हें वच्चों पर, जो अभी-अभी चलने लगे हैं, स्नेह (प्रीति) दिखाता हुआ दवानु बना रहता है।' अग्नि समयः—इस वाक्य में ग्रीष्म और नवामिषिन्त राजा का रूपक है। अभिनवोदितः—(१) नवोदित, नवागत (उष्णसमय के साथ); (२) नूतन राज्याभिषिक्त (राजा के साथ)। सरल अकरोत्—सभी फूलों के बन्धन खोल दिए; अर्थात् गरभी धाने पर सारे फूल झुपस गए और अपने दन्त से टूटकर गिर पड़े। नया राजा भी अपने राज्याभिषेक के समय बन्धियों को छोड़ देता है। विशिष्ट अवसरों पर बन्धियों को रिहा करने की प्रथा है—युवराजाभिषेके वा परचक्रावरोपणे। पुत्रजन्मनि वा मौक्षो बन्धनस्य विधीयते ॥ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर भारत में भी बहुत-से बन्धियों को रिहा किया गया था। प्रतपन्—(१) गरम होते हुए (उष्णसमय के साथ); (२) प्रताप दिखाते हुए (राजा के साथ)। स्वयम् वादर सूचक है। श्रुतुः एव राजां तस्य।

अभिषेकार्द्रा — यह विशेषण 'चामर-कलापा' (चँवर) और 'कामिनिचिकुरचया' (रमणियो के केश-कलाप) दोनों का है। रमणियों के केश-कलाप स्नान (अभिषेक) के बाद गीले रहते हैं और उधर चँवर भी गज्याभिषेक के बाद गीले हो जाते हैं। स्वयं युधेन—अर्थात् कामदेव ने रमणियों के स्नान से गीले केशों को हाथ में ले लिया, मानो उगने स्वयं अनुराज के अभिषेक से गीले चँवर उठा लिये हों। इस शब्द में, रमणियों के गीले केश ही श्रीकृष्ण के गीले चँवर थे, जिन्हें कामदेव ने उठा लिया था। स्नान से गीले हुए बाल सुन्दर लगते हैं और कामाईपथ हाने हें। श्रीकृष्ण के बठोर समय में कामदेव इन बालों को अपना लेता है। बाण का यह वर्णन कालिदास के इस पद्य का स्मरण दिलाता है—'स्नानाद्रमुजतेष्वनुपवास विन्यस्तसायन्तनमितल-केषु । कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्य केणोप लेभे रनिमगनानाम् ॥' रघुवंश १६।५०) राजशेखर ने भी लिखा है—'तदा ते स्नानाना दरदलितमत्ली-मुकुरिणाम् ।' हिमालय माली—सूर्य ने हिमालय के विरुद्ध मुद्द-माना आरम्भ कर दी (अर्थात् सूर्य उत्तर की ओर चले गए, उत्तरायण हो गए, श्रीकृष्ण ऋतु में सूर्य उत्तरायण हो जाते हैं)। इसका कारण था हिमदग्ध०—बर्फ से सभी कमल नष्ट हो गये थे, इसलिए सूर्य को मानो नाव आ गया था। कमल सूर्य निकलने पर विवसित होता है, अतः सूर्य और कमल में स्वाभाविक अनुराग होता है। जब सूर्य को यह मान्य हुआ कि हिमालय में (गरमी से) बर्फ पिघलने पर कमल झुनम गए हैं, तब उन्होंने नुद्ध हो हिमालय के विरुद्ध अभियान कर दिया। श्रीकृष्ण में सूर्य के उत्तरायण हो जाने का यह आल-पारिक वर्णन है। अमूर्त् मलति धारयति इति अशुमाली । डा० वासुदेव-धरण अद्रवाल ने इसमें यह सांस्कृतिक तथ्य निवाला है कि "किसी सकृत् से बचने के लिए लोग देवी-देवता का कोप-निवारण करने की इच्छा से स्नान पूजों की माना पहनकर 'जान' देने जाते थे। जानि के लिए प्राचीन शब्द 'यात्रा' था। 'जान देना' मुहावरा संस्कृत में प्रयुक्त

हुवा है (यात्रामंदात्) । सम्भवतः बाण उस समय की लोक-भाषा से इसका संस्कृत में अनुवाद कर रहे थे ।”

ललाटं तपति इति ललाटतपः । अथ “तपते = जिस समय माते को तपानेवाले सूर्य तप रहे थे; अर्थात् जब सूर्य प्रखर हो गए । ललाट के बाद अनुनासिक (न्) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार लगाया गया है— ‘वर्षट्पदजन्तस्य मुम्’ (६।३।६७) । तपते = सूर्य । ललनाललाटेन्दुभिः दिनकरारावननियमाः इव अगृह्यन्त— र्माणयो के सुन्दर ललाट-मानो सूर्य की आराधना करने के नियमों का पालन करने लगे । ‘ललाटेन्दुभिः’ के तीन विशेषण हैं, जो व्रत का पालन करनेवाले पर भी घटित होते हैं—

(१) चन्दनेन लिखितः ललाटिका एव पुण्ड्रकः यैः, जिन पर चन्दन से ललाटिका और पुण्ड्रक बने थे । ‘ललाटिका’ और ‘पुण्ड्रक’ ललाट पर चन्दन से अंकित किए जाने वाले अलंकार-रूप चिह्न (तिलक) होते थे ।

व्रतधारी भी ललाट पर पुण्ड्रक (सम्प्रदाय-विशेष का तिलक) लगाता है । (२) अलकाः एव चौरचौरं तैः सवीतैः, केशों की लटों के रूप में जो चौर-चौरों (संन्यासी के वस्त्रों) से ढके थे । (३) स्वेदो—

जो पसाने की बूंदों के रूप में मोतियों की रुद्राक्ष-माला धारण किये हुए थे । व्रतधारी भी अक्षमाला पहनता है । चन्दन सुन्दरीभिः— इसमें सुन्दरियों और कुमुदियों में साम्य स्थापित किया गया है । दिवसम-

सुप्यत सुन्दरीभिः— सुन्दरियों (कुमुदियों की तरह) दिन में सोने लगीं । दिवसम् का प्रयोग द्वितीया में ‘द्रव्यकर्मणि लादिविधानात् कर्मणि द्वितीयैव’ इस नियम के अनुसार हुआ है । चन्दनधूसराभिः—

(१) चन्दनेन धूसराभिः (सुन्दरीभिः); (२) चन्दनवत् धूसराभिः (कुमुदिनीभिः) । घबल होने के कारण कुमुदिनी को चन्दनधूसर कहा गया है । असूर्यम्पश्याभिः— (१) जो (गरमी के कारण) सूर्य के दर्शन नहीं करती थी (सुन्दरीभिः के साथ); (२) जो (स्वभाव के कारण)

सूर्य को नहीं देखती थीं, दिन में नहीं खिलती थीं (कुमुदिनीभिः के साथ) । मिद्रालसा तपम्— उनकी (सुन्दरियों की) नींद से भारी आँखें रत्नों

की जगमगाहट को भी नहीं सह सकती थी, कठोर धूप की बात तो दूर रही। अशिशिर शवण — चक्रवाक-जोड़ो ने ध्रौष्म-ऋतु में क्षीण पड़ जानेवाली चांदनी रातों का उन नदियों की भाँति अभिन दन (स्वात) किया, जो गरमियों में पतली पड़ जाती हैं और जो देहा से युक्त होती हैं। चक्रवाकों के जोड़े रात के समय बिछुड़ जाते हैं, अतः गरमी की छोट्टी रातों उनके लिए हर्ष का विषय थी। चक्रवाक नदियों के किनारे रहते हैं, अतः ये भी उनके हर्ष का कारण होती हैं। सौडुपा — (१) उडुपेन चन्द्रेण सह (शवय), (२) उडुपेन प्लवेन सह (नद्य)। अमि-नव पटु तीव्र पाटलानाम् आमोद तेन सुरभि परिमल यस्य (जलम् और पवनम् का विशेषण)। सूर्य के ताप के कारण लोगों को खिले पाटल-पुष्पों की तीव्र सुगन्ध से सुगन्धित जग ही नहीं, हवा भी पीने की इच्छा हो गई। पाटल ध्रौष्म का एक सुगन्धयुक्त फूल है। तुतना कीजिए— 'मुलमसलिलावगाहा पाटलससर्गसुरभिद्वनधावा' (शाकुन्तल)।

• [पृ० ५४] वाक्य दस प्रकार है—**ऋणेण च निदाधवाले प्रावर्तन्त मातरिदधा**। खरखगमयूले—**खरः प्रखरा खगस्य सूर्यस्य मयूला निर-खानि यस्मिन्**, जिसमें सूर्य की किरणें प्रखर होने लगीं। 'शरार्कविहगा खगा' इत्यमर। यह और बाद के पद 'निदाधवाले' के विशेषण है। **रण्डितशैशवे**—रण्डित शैशव यस्य, जिसका (ध्रौष्म का) शैशव शीत चला। **सीदत्तो नसि**—सीदति श्रोत्रासि यस्मिन्, धाराएँ पतली पजने लगीं। **वातर दिद्वे**—जब दोन कदूतरो के अनवरत झूजन से सतार चहरा हो रहा था। **चर्चीवाले पक्षी होने के कारण कदूतर गरमी नहीं सह सकते**। **इवम त्रिणि**—दूसरे परिमाण निदधास छोड़ रहे थे। **करीपञ्चुपमरुति**—करीप गोमय कपति शिपति गरत् वायु यस्मिन्, जब हवा सूडे गोबर को उडा रही थी। 'सर्वंपूलाध्वरीपेषु कप' पाणिनि ३।२।४२। 'सर्वंपूलाध्वरीपेषु कप' सिद्धान्त-कौमुदी। **विरलवीरधि**—विरला वीरधि सता यस्मिन्, (गरमी के कारण पत्तों के गिर जाने में) सताएँ विरल हो गईं, घनी नहीं रही।

रुधिर रक्तवक्त्रे—वातकी (लता) के पूर्ण विकसित लाल-लाल पुष्प-गुच्छों को शेर के वन्चे रुधिर के लोभ से चाटने लगे । वातकी के फूल बहुत लाल होते हैं । लोहिता सोमिन्—जलोहिता लोहिताः भवन्तः लोहितायमानाः तैः मन्दारैः सिन्दूरिताः आहितसिन्दूराः इव सीमान् यस्मिन्, लाल होते हुए मन्दार वृक्षों से सीमाएँ सिन्दूर-लिपी दीखती थीं । उस काल में यह प्रथा जान पड़ती है कि गाँवों की सीमा पर मन्दार के वृक्ष लगाए जाते थे, अथवा सीमाओं पर लोग लाल रंग के चिह्न बनाकर हृदवन्दी प्रकट करते थे (सिन्दूरितसीमा) । आज भी हृदवन्दी के पत्थर सिन्दूर से पोत दिए जाते हैं । धर्म गर्भुति—धर्मण मर्मरिताः शुष्कत्वेन ध्व्वायमानाः गर्भुतः लताः यस्मिन्, गर्मी से सूखी लताएँ मर्मर शब्द कर रही थीं । तप्त विकिरे—तपी घूल से (उत्पन्न) भूसी की आग (कुङ्कुल) से मुग्गे आदि पक्षी कानर हो रहे थे । विवर विधे—विवरं सरणं येषां ते विवरणरणाः श्वाविधाः यस्मिन्, साही-जैसे हिंसक जन्तु विलों की शरण ले रहे थे । रजनीराजपक्ष्मणि—रातें क्षय-रोग से ग्रस्त हो गई थीं । गर्मी में रातें, क्षय-ग्रस्त रोगी की तरह, धीरे-धीरे समाप्त होती हैं । कठोरो काले—जब ऐसी ग्रीष्म-ऋतु प्रौढ हो चुकी थी, पूरी तरह से आ चुकी थी । प्रावर्तन्त—वहने लगी । मातरिश्वानः—हवाएँ ।

धाक्य-सम्बन्ध इस प्रकार है—सर्वतः प्रत्यदृश्यन्त दाहणाः दावाग्नेयः, दाहण दावाग्नियां चारों ओर दिखाई देने लगी । शेष सारे पद 'दावाग्नेयः' के विशेषण हैं । यवचित् हरिणाः—कही स्वच्छन्द रूप से घास चरनेवाले हरिणों की तरह वे दावाग्नियां पीले रंग (हरिणाः) की थी और घास खा (जला) रही थीं । यह और बाद के 'स्वितयः' तक के पद दो अर्थवाले हैं—वे 'दावाग्नेयः' तथा एक और वस्तु से सम्बद्ध हैं । इन दूसरी वस्तु की, संज्ञा और विशेषण, दोनों रूपों में व्याख्या की जा सकती है । यवचित् बभ्रवः—कही पेड़ों की जड़ों में बने त्रिलों में लोटने-वाले नेवलों (बभ्रवः) की तरह (वे दावाग्नियां) लाल-पीली (बभ्रवः)

धी और पेड़ों की जड़ों के बिलों में घुम रही थी। श्वचित् कपिला — कही जटाधारी बपिल मुनि की तरह वे भूरे रंग की थी और मन्द-मूलो (जटा) का आश्रय ले रही थी। बपिल साख्य-दर्शन के प्रवर्तक थे। बहुवचन का प्रयोग आदरसूचक है। 'कपिला' का अर्थ 'बपिल मुनि के अनुयायी' भी हो सकता है। श्वचित् श्येना — कही वे (दावाग्निर्वा) ज्वेल बर्ण की थी (श्येना) और विहियों के घोंसलों (कुलाय) को गिरा रही थी, इस प्रकार वे उन बाज पक्षियों की तरह थी, जो छोटे पक्षियों के घोंसलों को गिरा देने हैं। श्वचित् रुच्य — कही वे घुर्जा उगल रही थी और उनका प्रकाश मन्द पड़ गया था (मन्दरुच्य), उन मन्दाग्निवाले (मन्दरुच्य) लोगों की तरह जो मूँह से घुर्जा (डकार) छोड़ते रहते हैं। धूमस्य उद्गार तेन मह सधूमो० (दावाग्नेय के साथ), सधूम उद्गार येषाम् (मन्दरुच्य के साथ)। डा० वामुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यहाँ धूम्रपान को मन्दाग्नि का कारण बनाया गया है। श्वचित् स-भस्मका — कही वे भस्मयुक्त थी और सारे ससार का वीरघनानरक्षक करना चाहती थी, भस्मक रोग में पंडित उन व्यक्तियों की तरह जो समस्त ससार में होनेवाला अन्न चट करने को तैयार रहते हैं। धस्मर— भस्मक। भस्मक व्याधि में भूख बहुत लगती है। श्वचित् वृद्धा— कहीं वे बाँसों के सिरो पर लगी (जलनी) दिखाई देती थी और आजार में बहुत बढ गई थी, उन अत्यंत वृद्ध पुरुषों की तरह जो लाटियों पर अपना शरीर थमाए रहते हैं। श्वचित् क्षयिण — कही वे पर्वतों पर शिलाजीत खाकर विनाश फैला रही थी, उन क्षय-रोगियों की तरह जो निरन्तर शिलाजीत खाने रहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में शिलाजीत की जानकारी हो चुकी थी। शिलाजीत क्षय-रोग में उपादेय माना जाता है। टीकाकार शंकर का कथन है कि शिला-धातु के प्रयोग से, शिव की वृषा से अथवा बकरो के मूत्र से क्षय-रोग क्षीण होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं—'शिलाधातुप्रयोगाद्वा प्रसादाद्वाय शंकरात्। अजामूत्रप्रयोगाद्वा क्षय क्षीयेत नान्यथा ॥' श्वचित् पीवान — कहीं जल आदि (द्रव्य चन्तुजो) को सुखाकर वे मोटी हों गई थी, उन स्थूल

सोमों की तरह जो पट्टरस भोजन करते हैं। क्वचित् · रौद्रः—कहीं वे गूगुल जलाकर रौद्र (भीषण) हो गई थी, उन रौद्रों (रुद्रपूजकों) की तरह जो (माये के उपर) गूगुल (की वृत्ती) जलाकर अपना मांस और हड्डी तक जला डालते हैं। क्वचित् · स्थितयः—ज्वलितानि नेत्राणि मूलानि तेषां दहनेन दग्धाः सकुमुमा शराः मदनाश्च येषु; कृता म्यासुपु स्थितिः यैः, कहीं वे दावाग्नियाँ जलती जड़ों की आग से फूलों-सहित शाखाओं तथा मदन नामक वृक्षों को जलाकर ठूँडे झाड़ो पर ठहरी हुई थीं और इस प्रकार उन शिव का-सा व्यवहार कर रही थीं, जिन्होंने जलती आँख की आग से पुष्पघनुप-सहित कामदेव को जला दिया था (ज्वलितेन नेत्रदहनेन दग्धः सकुमुमगरः मदनः यैः ; कृता म्यासुः शिवस्य स्थितिः व्यवहारः यैः) । चट्टुल · नटाः—बचल लपटोंवाली दावाग्नियाँ आरभटी शैली से नाचते हुए उन नर्तकों की तरह लगती थी, जो खुले बालों को इधर-उधर फटकते हुए नृत्य का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार बाल खोलकर सिर को और शरीर को प्रचंड अंग-संचालन द्वारा हिलाने की नृत्य-पद्धति बलूची और फवायली लोगों की अभी तक विशेषता है। स्वम् · मक्षयन्तः—अपने घुएँ को भी वादल बन जाने के डर से वे खा जाती थी। दावाग्नियों को भय था कि उनका धुआँ कहीं वादल न बन जाए और वादल कहीं वर्षा से उन्हें दान्त न कर दे। स्वेदिनः · काननेपु —घनों में पिघलते मधुकोश से बू रहे मोम को बरसाने से वे मानो पसीने से तर हो गई थीं (विलीयमानः मधुपटलगोलः माक्षिककरण्डः तस्मात् गलितं मधुच्छिष्टं तस्य वृष्टिः येषां तेषु वृष्टयः) । खल · रेपु—नितान्त ऊसर स्थानों में लपटों का घनापन (संहति) कम हो जाने कारण वे (दावाग्नियाँ) उस गंजे आदमी की तरह जान पड़ती थी, जिसके सिर पर बहुत कम बाल होते हैं। गृहीत · ज्येषु—शिला-समूहों में सूर्यकान्त-मणियों से दीप्त होने के कारण वे शिलाओं का ही कोर बनाती हुई प्रतीत होती थीं। सूर्य के प्रकाश में सूर्यकान्त-मणि आग उगलती है। शीघ्र में इन मणियों की ज्वाला के साथ दावाग्नियों के मिल जाने से ऐसा जान पड़ता था कि वे दावाग्नियाँ शिलाओं को ही घास बना रही हैं।

१२—किं स्वर्णम्? चारित्र्यम्; को निकषो? विपदेका

प्रस्तुत अवतरण में राजकुमार हर्ष के (जिन्होंने बाद में सन् ६०६-६४७ ई० तक सम्राट् हर्षवर्धन के नाम से) उत्तरी भारत का शासन किया, माता-पिता की मृत्यु का बखान है। मरणोन्मुख माता यशोवती तथा पिता प्रभाकरवर्धन द्वारा हर्ष को दिया गया उपदेश मार्मिकता की दृष्टि से 'हर्षचरित' के सबसे सुन्दर स्थलों में से है। इस प्रवचन में बाण ने कई प्रकार की बखान-शैलियों का प्रयोग किया है।

इस गद्यांश के धारक का अर्थ है—चारित्र्य (सदाचार) ही सच्चा सोना है और विपत्ति ही उसकी खरी कसौटी (निकष)।

[दृष्ट ५५] आरम्भ के आर्या छंद में श्लेष का प्रयोग है—एक परिवर्तमान अनन्त पयन्तरहित काल, संतान्परिवर्तमान अनन्त शेषम् इव, महापुरुषान् पातयति, अर्थात् काल जब करखट लेता है, अनेक महापुरुषों को भी एक साथ, अनादरपूर्वक (बिना किसी सोच-विचार के), बिसट डालता है, जैसे शेषनाग अपने फना की हिलाकर अनायास ही पहाड़ों को गिरा देता है। यह पद्य हर्ष पर माता-पिता की मृत्यु के क्षय में आ पड़ने वाली विपत्तियों का सूचक है। भाव्यता है कि शेषनाग के हजार फनों पर पृथ्वी टिकी हुई है और जब वह गुस्ताने के लिए फनों को हिलाता है तब भूकम्प आने हैं। बाल्मीकि रामायण के अनुसार पृथ्वी एक बड़े दिग्गज के मस्तक पर टिकी है और जब वह पनावट के मारे मस्तक हिलाता है तब पृथ्वी डोलने लगती है—'यदा पर्वणि कानुत्स्य विद्यामार्थं महागज । रदाच्चानयते शीर्षं भूमिवम्परतदा भवेत् ॥' (१।४०।१५।)

ठग्यस्तिम्न् अहनि—दूसरे दिन। इससे एक दिन पहले ही हर्ष अपने पिता की मरणता का समाचार पाकर, प्रवास से घर लौटें थे। उनके पिता मरण-शय्या पर थे और इससे उठाकर चित्त नितान्त उद्विग्न हो उठा था। द्रुतपति रिणी—द्रुतगतिवदेन त्वरितगतिवद्वात् विशीर्षं मार्शं श्रुत्यमानं बलद्धारं भूपर्यं शाङ्कारिणी शब्दाद्यमाना, सेजा से चलने के कारण द्रुत

पड़नेवाले नार्भूषणों से जो आवाज कर रही थी। जब 'पृच्छन्ती—'कुमार (हर्ष) कहाँ है, कुमार कहाँ है,' इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति से पूछती हुई। प्रतीहारी—द्वारपालयुवती। विषण्णं गता—लोगों ने विषाद-भरी आँखों से उसका स्वागत किया। कुट्टिमं—युगला—कुट्टिमे निवद्धाया भूमौ न्यस्तं हस्तयुगलं यथा, जिसने अपने हाथ फाँट कर टिका दिए थे। गलन्तोभिः—चञ्चनदीधितिधारामिः शुष्यन्तस् अधरं सिञ्चतीव—घाँतों से निकलती हुई किरणों (दीधिति) से अपने सूखते हुए और कुछ-कुछ धूसर अधरों को मानो सींचती हुई। प्रतीहारी का होठ दुःख के कारण सूख गया था; जब उसने नीचा मुँह करके निवेदन करना आरम्भ किया, तब उसके चमकते दाँतों की आभा होठ पर पड़ने लगी। यह आभा जब की धारा-जैसी प्रतीत होती थी। किमपि—देव्या—रानी ने कुछ विचित्र निश्चय (पति के अविगत रहते अनुमरण का, सती होने का सकल्प) कर डाला है। अध्वसितम् = निश्चितम्।

अपरम्—यह दूसरा अशुभ वृत्तान्त। अभी तक तो हर्ष अपने पिता की बीमारियों से व्यग्र थे कि उन्हें माता के लिए भी चिन्तित होना पड़ा। च्युतः इव सख्येन—वह मानो धीरज खो बैठे। द्रुतः इव दुःखेन—दुःख से मानो गल गए, किलीन हो गए। आचान्तः इव चिन्तया—चिन्ता से मानो ग्रस्त हो गए। अचान्तः = पीतः = प्ररतः। तुलितः इव तापेन—ताप से जैसे तौल लिये गए। अङ्गीकृतः इव आतङ्गेन—अतङ्क ने, भय ने जैसे उन्हें अपनी गोद में भर लिया, अर्थात् वह अत्यन्त भयभीत हो गए। अग्रतिपत्तिः आसीत्—ऐसी थी उनकी सज्ञा-विहीनता, किकर्तव्यमूढता। प्रतिपन्नसंज्ञस्य—प्रतिपन्ना प्राप्ता सज्ञा चेतना येन तस्य, होश में आने पर (उन्होंने मन में सोचा)। कठिने—यह 'हृदये' और 'अश्विनि' दोनों का विशेषण है। दुःखान्निपङ्गः—दुःखस्य अभिपङ्गः अभिभवः, दुःखों का आक्रमण। निरनुक्रोशस्य—निर्गतः अनुक्रोशः अनुकम्पा यस्मात् तस्य निर्दयस्य। पूरे वाक्य का अर्थ यह हुआ—जैसे कठोरपत्थर पर लोहे की चोट आग पैदा करती है (द्रुतभृजम् उत्थापयति), वैसे ही मेरे कठोर हृदय

पर अनेक प्रकार से होनेवाला यह दुःखो का आक्रमण आग तो पैदा करना है, पर मुझ निर्दय की काया को भस्म नहीं करता ।

प्रविशन्नेव निर्पान्तीम्—भीतर जाते ही उन्होंने माता को बाहर निकलते देखा (निर्पान्ती निर्गच्छतीम्) । यह तथा बाद के समस्त द्वितीयान्त एकवचन पद 'मातरम्' के विशेषण हैं । दत्त तेषाम्—दत्त सर्वं स्वापतेयं धनं यथा, जिसने अपनी समस्त सम्पत्ति का दान कर दिया था । स्वापतेयम्—(स्वपति + ङ्) —स्वपती साधु स्वापतेयम्, यह शब्द पाणिनि के दृष्ट नियम के अनुसार बना है—व्यतिथिवसतिरवपतेर्ङ्, अर्थात् 'पविन्', 'वसति', 'वसति' और 'स्वपति' में 'साधु' के अर्थ में ङ् प्रत्यय जुड़ता है । गृहीतमरणप्रसाधना—गृहीत मरणप्रसाधन सतीरवाय सोभाग्यचिह्नानि यथा, जिसने मरण-काल के (मती बनने के) सभी अल-कार धारण कर रहे थे । जानकी प्रवेशयन्तीम्—जैसे सीता ने पति के सामने (पुर) अग्नि में प्रवेश किया था, वैसे ही वह भी पति से पहले (पुर) अग्नि-प्रवेश करनेवाली थी । प्रत्यग्र उत्थिताम्—अभी-अभी स्नान करने के कारण उसका शरीर गीता था, मानो भगवती लक्ष्मी अभी क्षण समुद्र में से निकली हो । लक्ष्मी समुद्र में से निकलने समय यशोवती की तरह भीभी रही होगी । प्रत्यग्र सद्यः सम्पादित स्नानं तेन आर्द्रं निलनं देह-यस्या सा, ता देहाम्, तस्या भाव देहता, तथा । कुमुम्भ दपानाम्—वह कुमुम्भ पत्र के समान दो लाल बरतन पहने थी, मानो ब्राह्मण ने दोनों सन्ध्याएँ धारण कर रहीं हो । धान्या प्रसाधिताम्—अपनी धाय द्वारा वह जलकृत की गई थी, साथ ही वह अपनी पति-भक्ति से भी विभूजित थी । धान्यो (धान्येधो या धानी-मुता) का काम रानी का प्रसाधन करना था । इसमें तथा बाद के वाक्यांशों में 'प्रसाधिताम्'—जैसे शब्दों के दो अर्थ हैं, एक शाब्दिक, दूसरा रूपकात्मक । मूर्च्छया धार्यमाणाम्—एक दृष्टिया और मूर्च्छा, इन दो परिचितों (सरतुन) ने उन्हे महाराग दे रखा था । [पृ० ५६] वदसन्सङ्गतया—जो उसके दुःख की सगिनी थी (मखी के साथ); जो उमकी विपत्ति से सम्बद्ध थी (पीछा के साथ),

सखी और पीड़ा, विपत्ति के इन दोनों साथियों ने उसका आलिंगन कर रखा था। परिजनेन...परीताम्—सेवकों से, जिन्होंने उसके सारे अंगों को पकड़ लिया था, वह धिरी थी; साथ ही, वह सन्ताप से भी, जो उसके समस्त अवयवों में प्रविष्ट था, व्याप्त थी। कुल अधिष्ठिताम्—बड़े-बड़े कुल-पुत्र तथा लम्बी-लम्बी साँसें उसके साथ थी। कञ्चुकिभिः... गताम्—बूढ़े कंचुकी उसके पीछे आ रहे थे; उसका दुःख बहुत बढ़ गया था और उसके पीछे लगा था।

वाप्यायमाणा (वाप्यम् उद्धमन्ती)—वाप्य, नामधातु, शानच्। सस्नेहम्... चूडः—जिसके सिर के ऊपर के बाल नूपुरों के रत्नों की किरणों द्वारा स्नेहवश चुम्बित हो रहे थे। जब हर्ष माता के चरणों पर गिर पड़े, तब माता के रत्नजटित नूपुरों की आभा उनके बालों पर पड़ने लगी। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ऐसा उन्होंने स्नेह से प्रेरित हो कर किया। गिरिणे... माना—जिसके शोक का आवेग मानो एक बड़े पहाड़ ने रोक दिया था। मार्ग में रुकावट आ जाने से धारा और भी वेग से प्रवाहित होने लगती है; रानी का शोकावेग भी, जिसको उसने जवरदस्ती रोक रखा था, फूट पड़ना चाहता था। खण्डम्यमाना (स्तम्भिता)—अव + स्तम् + यक् + शानच्। वाप्योत्पतनम्—अश्रुप्रवाहम्। रानी आँसुओं का गिरना न रोक सकी। कृतान्तं गर्हमाणा—काल को कोसती हुई। प्राकृतप्रभवा इव—सामान्य स्त्री की तरह।

प्रशान्ते च मन्युवेगे—जब दुःख का आवेग शान्त हो गया। सुत... युगला—सुतस्य वदने विनिहितं निभृत (शान्त) मननयुगलं यथा सा। नासि वा—ऐसा नहीं है कि तुम अप्रिय, गुणरहित या त्याग कर देने के योग्य हो। स्तन्यम्—स्तने भवं स्तन्यं दुग्धम्, स्तनों का दूध। प्रभूत-प्रभुप्रसादान्तरिता—प्रभूताः प्रभोः प्रभाकरवर्धनस्य प्रसादाः तैः अन्तरिता, अर्थात् मेरी दृष्टि इस समय स्वामी के अनुग्रहों से आच्छादित है, मुझे इस समय अपनी पति-भक्ति ही दीव्य रही है, पुत्र-स्नेह नहीं। कुलकलत्रम् अस्मि—भैं एक उच्च परिवार की बच्ची हूँ। धर्मधवले—धर्मण धवले,

अपनी धर्मपरायणता के कारण उज्ज्वल । वीरजा—वीर की पुत्री ।
 बाण ने उस राजवश क बार में कुछ नहीं बताया है, जिसमें यशावती
 का जन्म हुआ था । पराक्रमशीला—पराक्रम से खरीदी गई, यर्थात् जो
 केवल पराक्रम की परवाह करती है, या पराक्रम पर ही जो अनुरक्त है ।
 भरत—बाण का सकेत सम्भवतः दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत
 की ओर है । एक और भी भरत हुए थे, जो ऋषभ के पुत्र और नाभि के
 पौत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । भगीरथ—
 गंगा का पृथ्वी पर लानेवाले । नाभाग—रामायण के अनुसार यह नहुष
 के पुत्र और अम्बरशय के पौत्र थे (२।११०।३३) । चन्द्रारक=श्रेष्ठ ।
 आसोवित शिरसा—सेवा में होट करने वाली अनन्त सामंती की स्त्रियो
 ने सोने के घड़ों को उँटेलकर इस सिर पर अभिषेक किया, अनन्तसामन्त-
 समीपित्तन्य, ताभि समावर्जित जाम्बूनदघट अभिषेक । महादेवी
 ललाटेन—इस ललाट का महारानी के पट्टबन्ध का मनोरथ-दुलभ मत्वार
 प्राप्त हुआ । यर्थात्, यशोवती के सिर पर पहले मुख-घटो से अभिषेक
 किया गया था और तब ललाट पर महादेवी-पट्ट साडे दस इंच लम्बा,
 बीच में सवा पाँच इंच चौड़ा और किनारों पर इसकी आधी चौड़ाई का
 होना था । अमित्र धरी—अभिशापकलत्राणि एव बन्धुवन्धु तेन विभूय-
 मान चामर तस्य मरुता चल चिनामुक् तस्य धरी (पयोधरी का विशेष-
 दण)—जिन रत्नों पर का चीनी रेणुमी बन्धु शत्रु-गनियो द्वारा डुलाई
 जाते चँवरों की हवा में हिलना रहना था । यशोवती चिनामुक् का
 उत्तरीय धारण करती थी । सपत्नीना शिर सु निद्रि चरणयुगलम्—
 इसका शब्दार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, आशय यह है कि उसने अपनी
 समस्त सौतेली पर राज किया था । नमन् अर्चितम्—जिन (पैरों) की
 पूजा राजधानी-भर की कृतुम्बिनियो ने प्रणाम करते समय अपने मुकुट
 पर की मणि-मालाओं से की थी । [पृ० ५७] कृतार्थसर्वावयवा—इस
 प्रचार मेरे सभी अवयव कृतकृत्य हुए । न च वर्तुम्—स्वाभो के भस्म

कि स्वर्णम् ? चारिञ्चम्; को निकपो ? विपदेका (व्याख्या) १३५

हो जाने पर, आर्यपुत्र से रहित होकर मैं रति की भाँति निरवक प्रलाप नहीं कर सकती । अतिशीतलः • अनलः—पति-वियोग के इस शोकानल से, जिसका इन्धन अक्षय स्नेह है, यह अनल (अग्नि) अतिशीतल है । दुःख • भवति—दुःख से दग्ध व्यक्तियों की समृद्धि (भूति) अशुभ, अमि-शप्त और निरूपयोगी होती है । भूति का अर्थ भस्म भी होता है । यज्ञ की भस्म के अतिरिक्त सब रास अमगल होती है । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । विधवानां • वपुषा—इस लोक में मैं विधवाओं के यश से रहना चाहती हूँ, न कि शरीर से । विधवाओं का यज्ञ उनका सती हो जाना है । न पुनः कदर्यनीयास्मि—मेरे (सती होने के) मनोरथ के प्रतिकूल होकर पुके फिर फलेशन पहुँचाना । कदर्यनीय—कदर्य (नामघातु) + वनीय । कुत्सितः अर्थः कदर्यः ।

ससम्भ्रमम्—सम्भ्रमेण वेगेन सहितं यथा स्यात्तथा । उभयकर०—उभयकराभ्यां विवृतं वपुः यस्याः, माता का शरीर अपने दोनों हाथों से पकड़कर । दुर्निवारतां • समवधार्य—माता का शोक रोकना अत्यन्त कठिन है, यह सोचकर । कुल • क्रियाम्—कुलागनाओं के लिए वही क्रिया (सती हो जाना) श्रेयस्कर है, ऐसा मानकर ।

अग्निमरति रूपम्—स्नेह से कातर होने पर भी कुलीन व्यक्ति देश और काय के अनुरूप आचरण करता है । बाण के अनुतार, इसी कारण हृदय से अपनी माता का सती होना स्वीकार कर लिया । पौरा • दिग्भिः—नगर-निवासियों के प्रन्दन से भरी दिशाओं ने जैसे उसे रोकना चाहा । सरस्वती—इस नदी के तट पर पंजाब के करनाल जिले का बानेसर (स्थाण्डीधर) नगर अवस्थित है । यह नदी आगे रेगिस्तान में जाकर लुप्त हो जाती है । स्त्री • पात्रैः—सर्व-स्वभाव के अनुरूप कातर दृष्टि-पात्रों से (अग्नि की पूजा की) । प्रदिकृत्तित • पुञ्जैः—जो विदितित लाल कमलों के समूह जान पड़ते थे । भानुमन्तनिव मूर्तिः ऐन्दवी—जैसे चन्द्रमा का आकार (अमावस्या के दिन) सूर्य में प्रवेग करता है ।

चित्रमानु का अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों है ।

इतरोऽपि—इसका सकेत हर्ष की ओर है । स्वल्पा वृत्तिम्—स्वल्प अवशेष यस्या सा ०शेषा प्राणवृत्ति, यस्य तम्, जिनमें थोड़ी ही प्राण-शक्ति बची थी । परिवर्त्यमानतारक्षम्—(१) जिनकी आँखों की पुतलियाँ धूम रही थी (जनयितारम् के साथ), (२) जो तारों की घुमाता है (तारकराजम् के साथ) । अस्तम् अभिलपतम्—(१) मृत्यु की इच्छावाले, (२) अस्त होने की इच्छावाले । असह्य द्रुत—असह्य शोक के आधिक्य से अभिभूत । त्याजित स्नेहेन धैर्यम्—स्नेह ने उनसे मारा धीरज छुड़वा दिया, स्नेह के बश हो वह धैर्य त्याग बैठे । [पृ० ५८] सकल लालितौ—सारे उद्धत राजाओं की मस्तकम्पी माला में शोभित । विमुक्ताराव—विमुक्त आराव विलापशब्द येन ।

उपरध्वमानदृष्टि—उपरोधवती दृष्टि यस्य, जिनकी दृष्टि झपकी जा रही थी । अवि श्रवण—अधिरतग्दितगन्द्रेण श्राधितौ श्रवणी यस्य, जिनके कानों में (हर्ष के) लगातार रोने का शब्द पड़ने में । प्रत्यभिज्ञाय—पहचान लिया । मन्त्रं सत्त्वा—जाप-जैमेपुष्प अधीर नहीं होने । अधिद्यमान महासत्त्व येषा ते अमहासत्त्वा । महा वीजिता—लोगों का पहला महारा मनोजित (मनस्विता या धैर्य) है, हमारा राजकुल (लोक या सत्सार महाधैर्यशाली के आश्रय से टहना है, राजा का अश तो बाद की धीज है) । लोग किसी का महारा पहले यह देखकर लेते हैं कि वह धैर्यवान् है या नहीं, उमरा राजवश में मन्त्रन्वित होना गौण वस्तु है । राजवीजिता = राजा बधिता । सर्वातिज्ञयाधित - सभी गुणों के आश्रय-स्थान । बव बव—दो वर का प्रयोग महान् अन्तर या विरोध दिखाने के लिए किया जाता है, वहाँ जाप मनस्वियों (धीरों) में श्रेष्ठ, सभी गुणों के आश्रय और वहाँ यह पत्राहट । कुल कर्णामिव—'कुल-प्रदीप हो', एसा कहना तुम्हें छोटा बनाना है, पर्योकि तुम सूर्य के समान तेजस्वी हो । प्रदीप—(१) दीपक, (२) मूषण । पुरप निन्देव—'तुम पुष्पों में

सिंह हो', यह कहना तुम्हारी निन्दा है, क्योंकि तुमने तो शूरता और प्रखर प्रज्ञा से अपना पराक्रम बढ़ाया है (जबकि सिंह के पास केवल शारीरिक शक्ति होती है); शीघ्र पदुप्रज्ञया च उपवृ हितः अभिवधितः पराक्रमः यस्य । क्षितिः... पुनरुत्तमिव—'यह पृथ्वी तुम्हारी है', यह पुनरुक्ति है, क्योंकि तुम्हारे लक्षण ही तुम्हारा चक्रवर्ती होना बता रहे हैं; लक्षणैः आख्यातं चक्रवर्तिमद यस्य । गृह्य... विपरीतमिव—'लक्ष्मी को ग्रहण करो', यह उलटी बात कहना है, क्योंकि स्वयं लक्ष्मी तुम्हें ग्रहण कर चुकी है। ऐसा ही भाव 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में आया है—'लभेत वा प्रार्थयित्वा न वा श्रिय श्रिया दुराप. कथमीप्सितो भवेत् ।' अध्यास्य... अपुष्कलमिव—'इस लोक को स्वीकार करो,' यह तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तुम दोनों लोक (इहलोक और परलोक) जीतने के इच्छुक हो । अपुष्कलम्—अपर्याप्त । अध्यास्यताम्—अधि + आसु, लोट्, प्रथमपुहप एकवचन, कर्मवाच्य । स्त्री योगमिव—'कोश स्वीकार करो, यह कहना बेकार है; क्योंकि तुम चन्द्र-किरण-सदृश निर्मल यज्ञ का संचय करने में दत्तचित्त हो, 'शशिनः कराणां निकरः समूहः तद्वत् निर्मल यज्ञः तस्य संचये एकः केवलः अभिनिवेशः संकल्पः अस्ति अस्य इति ०वेशिनः । आत्मी... मिव—'राजाओं के समूह को अपनाओ', यह कहना निरर्थक (गतार्थम्) है, क्योंकि तुमने अपने गुणों से संसार-भर को अपना बना लिया है । राजकम्=राजां समूहः । उह्यतां नियोगमिव—'राज्य-भार वहन करो', यह अनुचित आदेश है, क्योंकि तुम तीनों लोकों का भार वहन करने के योग्य हो । प्रजा अनुवादः इव—'प्रजा का पालन करो,' यह पुनरुक्ति (अनुवाद) ही है, क्योंकि तुम अपनी लम्बी भुजाओं से दिशाओं की रक्षा कर रहे हो; दीर्घाम्यां दोर्दण्डाम्यां अर्गलितानि वृद्धानि दिङ्मुखानि येन । 'अनुवाद' पूर्वमीमांसा का पारिभाषिक शब्द है; जब किसी वैदिक विधि का पुनःकथन, 'स्पष्टीकरण या उदाहरण दिया जाता है, तब उसे 'अनुवाद' कहते हैं—'विधि विहितस्य वचनमनुवादः ।' परिजनः... मिव—परिजनों (अनुचरों) का

पालन करो, यह कहना लोकपाल-जैसे तुम्हारे लिए आनुपङ्गिक ही है।
 आनुपङ्गिकम्—अनुपङ्गात् आगतं ठक्। आनुपङ्गिकं उसे कहते हैं, जो
 किसी कार्य के बाद स्वतः ही घटित होता है, जब हर्ष लोकपाल की तरह
 थे, समस्त सत्कार के पालक थे, तब इससे यह स्वतः सिद्ध है कि वह अपने
 स्वजनों-सेवकों की भी रक्षा करेंगे। सातत्ये दिश्यते—'निरन्तर
 शस्त्रान्यास करो', ऐसा आदेश उसे दिया गया था, जिसकी बाँध धनुष
 की डोरी के घर्षण से काली पड़ गई है, धनुर्गुणस्य विष्णो तस्य कलङ्क-
 तेन कारिकाकृतं प्रकीर्णं हस्ताग्रस्य। निगृह्यतां वाणी—'घपलता
 की वश में करो (रोको)', मेरा यह कहना उसके लिए असमय की बात
 है, जिससे छोटी आयु में ही इन्द्रिय-निग्रह कर लिया है। निरख दिग्ता—
 'अनुओं को समाप्त कर दो,' यह तुम्हारे सहेज तेज के लिए (तुम-जैसे स्व-
 भाव से तेजस्वी व्यक्ति के लिए) सोचने की बात है, अर्थात् यह समस्या तो
 तुम स्वयं अपने स्वाभाविक तेज में हल कर दोगे, मुझे इसके लिए तुम्हें प्रेरित
 करने की कोई आवश्यकता नहीं। इम वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता
 है—अपने अनुओं को समाप्त कर देने के लिए तुम्हें कहना तुम्हारे तेज पर
 सन्देह (विन्ता) करना है। अपुनरुन्मीलनाय—फिर कभी न खोलने के
 लिए; पुनः अप्रबोधनाय। निमिमील (नि+मील, लिट्)—न्यमीलयत्।
 'पूपापि—सूर्य भी, 'ऽपि' का भाव यह है कि इसपर राजा ने प्राण छोड़े
 तो उधर सूर्य भी निस्तेज हो गए। अस्मिन्नेवान्तरे—इसी बीच। आयुषेव
 तेजसा—तेज-रूपी आयु से। व्ययुज्यत—वियुक्त हो गये, वि+युज्,
 लट्, प्रथमपुरुष एकवचन, कर्मवाच्य। ततश्च समभवत्—राजा का
 जीवन अपहरण करने में उनका जो अपराध हुआ, उससे लजाते हुए
 उन्होंने अपना मुँह नीचे लटका लिया (अर्थात् वह पश्चिम में नीचे
 उतर आए, अस्तप्राय हो गए)। दिन में—सूर्य के अधिकार-समय में—
 राजा के मरने से सूर्य भी अपराधी हुए। [पृ० ३६] भूपाल प्रपेदे—
 राज-मृत्यु की शोकाग्नि से मानो भीतर-ही-भीतर जलते हुए वह सात
 हो गए, भूपालस्य अभाव मरणेन शोकं स एव शिखी अग्नि तेन।

जो धीरे धीरे अग्नि में गरम की जाती है वह भी लाल हो जाती है ।
 मन्वं दिवः—मानो अप्रिय प्रश्न पूछने के लिए लोकाचार का अनु-
 सरण करते हुए वह आकाश से धीरे-धीरे उतरे । 'अप्रिय प्रश्न' कुशल-
 प्रश्न का उलटा है, मृत्यु-सम्बन्धी प्रश्न । दित्सुः ससर्प—मानो राजा
 को जलाञ्जलि देने की इच्छा से वह पश्चिम सागर (अपरजलनिधि)
 के समीप पहुँचे । दित्सुः—दत्तुम् इच्छु । सद्य माद्यत्त—जलाञ्जलि
 देते ही उनके सहस्र 'कर' (हाथ, किरण) मानो शोकान्नि से जलकर
 लाल-से हो गए ।

१३—अहो प्रभावस्तपसाम् !

गोदावरी-तट पर स्थित महर्षि जाबालि के आश्रम के इस बाण-कृत
 भव्य वर्णन को पढ़कर मन जैसे शान्ति और संयम के जल से प्रक्षालित
 हो जाता है । क्रुद्ध अशों में कवि-कल्पना-प्रसूत होने पर भी इस वर्णन
 में प्राचीन अद्वैत-जीवन के वातावरण को पुनः मूर्त रूप देने का
 सच्चा प्रयत्न पाया जाता है । जिस प्रकार 'हर्षचरित' में बाण ने बौद्ध
 पण्डित दिवाकर मित्र के आश्रम का भव्य चित्र खींचा है, वैसे ही वैदिक
 परम्पराओं के पुञ्जीभूत आदर्शों के रूप में जाबालि के दिव्य आश्रम की
 भी कल्पना की गई है । डा० वासुदेवशरण अय्याल के अनुसार, जाबालि
 के उदात्त चित्रण में उन सब उत्तम गुणों एवं चारित्रिक पूर्णताओं का
 चल्ने-ख हो गया है, जो गुप्त-युग में बौधिसत्त्व-तुल्य महापुरुषों के आदर्श
 चरित्र की विशेषताएँ मानी जाती थीं ।

इस कथांश का वक्ता वैशम्पायन शुक है, जो शूद्रक की राजसभा में
 अपनी आपर्णाती सुनाता है । [पृ० ५६] अनितद्वरम् इव गत्वा—कुछ ही
 दूर जाकर । दिशि दिशि—हर एक दिशा में । संनिहितकुसुमफलैः

(०स्थलीभि का विशेषण) —सनिहितानि निकटस्थानि कुसुमानि फनानि चयेपातं, अर्थात् फन-फूलों से लदी। आरभ्यस्थलीभि —वन-भूमियो से। उपशोभितप्रान्तम्—जिसका आसपास का प्रदेश (प्रान्त) सुशोभित था। यह और बाद के समस्त द्वितीय एकवचन के पद 'आथमम्' के विशेषण हैं। आगूहीत मृद्धि (मुनिभि का विशेषण)—जिन्होंने (हाथ में) समिधाएँ, दर्भ (कुस), पुष्प और मृत्तिका (मृद्) ले रखी थी। अध्ययन गनं—अध्ययनेन वेदपारायणं मुखरा वाचला ये शिष्या तं अनुगनं युक्तं, जिनके साथ वेदों का धोर करते हुए शिष्य चल रहे थे। अगून्योपकण्ठम् अगून्य अविरहित परिपूर्ण उपकण्ठ निकटदेश यस्य तम्। भाव यह है कि वहाँ समिधा, दर्भ, पुष्प और मृत्तिका हाथ में लिये वेदपाठी शिष्यों के साथ मुनिगण चारों ओर प्रवेश कर रहे थे। अनवरत कुलम्—अनवरत श्रवणं निरन्तराकरणेन गूहीता शिक्षा प्राप्ता ये वपट्कारा हवि-समर्पणमन्त्रा तं तदभ्यासरतं वाचाल शब्दायमान शुककुल कीरण यस्मिन् स त तादृशम्, अर्थात् वपट्कार (हवि-मन्त्रों) को निरन्तर सुनते रहने के कारण भुग उन्ह सींच गए थे (गूहीत) और उन्हें रट रहे थे। यज्ञ में वपट्कार का उच्चारण बहुत उच्च स्वर में किया जाता है, जैसा कि इस पाणिनि-सूत्र में कहा गया है—'उच्चैस्तरा वा वपट्कार'। अनेक सुब्रह्मण्यम्—अनेकाभि सारिकाभि पीतपादाभि उद्घुष्यमाणम् उच्चैस्वरेण उच्चायमाण सुब्रह्मण्य वेद यत्र तम्, जहाँ सारिकाएँ वेद-मन्त्र का उद्घोष (उच्च स्वर से उच्चारण) कर रही थी। अरण्य पिण्डम्—अरण्यत्रुषुष्टं उपभुज्यमान भक्ष्यमाण देवयज्ञस्य बलिपिण्ड यत्र तम्, जहाँ जगली मुर्गे-वैश्वदेव-वनि के पिण्ड खा रहे थे। परिचित तापसम्—परिचिताना शान्तामृगाणा वानराणा वराहृष्टया हस्ताकयणेन निष्कास्यमाना बहि क्रियमाणा प्रवेश्यमाना अन्त प्रदेश कर्मणा च जरन्त वृद्धा नेत्रविहीना तापमा तपोचना यत्र तम्, जहाँ वृद्धे और अन्धे तपस्वी परिचित (सिखाये हुए) बन्दरो द्वारा हाथ पकड़कर बाहर-भीतर लाये-से जाए रहे थे। इम बल्मापितम्—इभकलभाना हस्तिपोतानाम् अर्धो-

पनुक्तानि च तानि पतितानि तैः सरस्वत्याः भुजतताभ्यां विगलितैः
 चर्चैः शंखवलयैः कन्दुकटकैः इव मृणालगकलैः विसखण्डैः कल्माषितं
 चित्रितम्, जो उन कमल-नालों के टुकड़ों से चित्रित थी, जिन्हें हाथियों
 के बच्चों ने आवे-आवे लाकर गिरा दिया था और जो सरस्वती
 की लता-जैसी भुजाओं से खिसके हुए श्वेत शंख-बलय जैसे लग रहे थे।
 चलय=कलाई के आभूषण, कड़े। ऋषि...कन्दमूलम्—ऋषिजनार्थ
 मुनिभ्यः एणकैः हरिणैः विज्ञाणनिखरैः शृङ्गप्रान्तैः उत्खन्य नानानि
 विविधानि कन्दमूलानि यत्र तम्, जहाँ ऋषि-मुनियों के लिए
 हिरन अपने सींगों की नोक से नाना प्रकार के कन्द-मूल खोद रहे थे।
 खम्बु...आलवालकम्—खम्बुना जलेन पूर्णानि पुष्करपुटानि येषां तैः वन-
 करिभिः आपूर्यमाणानि विटपानां पादपानाम् आलवालकानि आधारवन्धाः
 यत्र तम्, जहाँ जंगली हाथी कमल-दल के बड़े दोनों में जल भरकर बुलों
 के आलवाल (थाला) सींच रहे थे। उपजातः...हुताशनम्—उपजातः
 नञ्जातः परिचयः संस्तवः येषां तैः कलापिभिः मयूरैः पलपुटानां पवनेन
 वायुना संघ्युष्यमाणः मुनीनां होनस्य हवनस्य हुताशनः वह्निः यत्र तम्,
 जहाँ हिले हुए मोरों द्वारा अपने पंखों की हवा से मुनियों की होमग्नि
 प्रज्वलित की जा रही थी। अब विरोधानास अलङ्कार द्वारा आश्रम का
 वर्णन किया जाता है। सुरभि...गन्धम्—सुरभिविलेपनम् अङ्गरागोचितं
 चन्दनादिकं धरति इति नः (सुरभेः गोः विलेपनं गोमयं यस्यां सा पृष्ठी
 यत्र) तं तादृशं अपि सततम् आविर्भूतः प्रकटितः हृद्यवृमगन्धः यस्मात्;
 जो सुरभि-विलेपन (चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य, गोबर से लिपी भूमि) ने
 युक्त होने पर भी होन के घुएँ की गन्ध प्रकट करता था। मातङ्ग...
 पवित्रम्—मातङ्गकुलेन चाण्डालकुलेन अध्यासितम् अपि पवित्रम् इति
 विरोधः चाण्डालस्य अपवित्रत्वात् परिहारस्तु मातङ्गकुलं हस्तिकुलम्,
 जो मातङ्ग-कुल (चाण्डालों; हाथियों के समूह) से बसा होने पर भी
 पवित्र था। उत्ससित...उपद्रवम्—उत्ससितम् ऊर्ध्वम् उचितं धूमकेतुगतं
 यत्र तस्यापि प्रशान्ताः उपद्रवाः यत्र इति विरोधः; एकस्यापि धूमकेतोत्पत्त्या-

सस्य नक्षत्रविशेषस्योदये वा सति उपद्रवगतसम्भवात् विमुक्त तच्छनोदये, परिहारस्तु घूमकेतु वह्नि, जो मँकडो घूमकेतुओ (पुच्छन तारो, होम की अग्निषो) के उगने पर भी उपद्रव-रहित था। 'अग्न्युत्पाती घूम-केतो' इत्यमर। परिपूर्ण अन्धकारम्—परिपूर्णस्य सम्पूर्णस्य द्विजपते चन्द्रस्य मण्डलेन सनाश सहितम् अपि सदा सर्वदा सनिहित मभीपस्थ तरुगहने वृक्षवानने अन्धकार यत्र इति विरोध, परिपूर्णा ज्ञानेन पूर्णा द्विजपतय त्रिप्रा तेषा मण्डलेन सनायम् अपि, इति परिहार, जो परिपूर्ण द्विजपति-मण्डल (पूरे चन्द्रमा के बिम्ब, ज्ञान से मरे-पूरे विद्र-वर्गो) से युक्त होने पर भी निकटवर्ती पेड़ों के जगल के अँधेरे से सदा छाया रहता था। [पृ० ६०] अतिरमणीयम्—अतिमनोहरम्। अपरम् इव ब्रह्मलोकम्—द्वितीय ब्रह्मलोकम् इव इत्यर्थं।

यत्र च मलिनता चरितेषु—जहाँ मँलापन (कालोस) अग्निहोत्र के घुएँ में दिवाई देता था, (मुनियों के चरित्रों में नहीं)। मुखराग कोपेषु—मँह की माखी गुगुगो में थी, त्रोध में नहीं। तीक्ष्णता स्वभावेषु—तीक्ष्णता कुशाओं के अग्रभाग में थी, मानव के स्वभाव में नहीं। चञ्चलता मनसु—चचलना केले के पत्ता में थी, (मुनियों के) मन में नहीं। चक्षु परकलत्रेषु—नेत्र-राग (आँखों की लाली) कोपलो में थी, पराई स्त्रियों के लिए चक्षु-राग (वासना-भरी दृष्टि) नहीं। मेलता बलहेषु—मेलता-बन्ध, (मँन्जी-धारण) उपनयन-जैसे व्रतों में होता था, ईर्ष्या-जय बलह में (तलवार-त्री मँठ) नहीं (पत्रही जाती थी)। स्तन कामिनीषु—होम की गौओं के ही स्तन दृए जाते थे, अनुराग-भरी रमणियों के स्तन नहीं। पक्षपात विवादेषु—पक्षपात (पखा का गिरना) कुक्कुटो में होता था, वाद-विवाद में पक्षपात नहीं। भ्रान्ति शास्त्रेषु—भ्रम (सख्या-सम्बन्धी) अग्नि की प्रदक्षिणा में होता था, शास्त्र का अर्थ लगाने में नहीं। वसु सृष्णसु—वसु देवताओं का गुण-मान दिव्य कथाओं में होता था, सृष्णा-वस (धन की चर्चा में) नहीं। गणना क्षरीरेषु—गिनती (जप में) वद्राक्ष-माला की की जाती थी, नखर-क्षरीर (सम्मान-भावना) की नहीं।

मुनि' 'मृत्युना—मुनियों के वालों का नाश (मुण्डन) यज्ञ-दीक्षा के समय होता था, मृत्यु से मुनि-कुमारों की शरीर-हानि नहीं। रामा ' 'यौवनेन—रामानुराग (राम-सम्बन्धी प्रेम) रामायण में उत्पन्न होता था, यौवन मे (स्त्री-प्रेम) नहीं। मुख' 'मानेन—मुख-भंग-विकार (झुरियों का पड़ना) वृद्धावस्था से होता था, धन के घमंड से (भुँह मोड़ना) नहीं। यत्र च महा-भारते शकुनिवधः—जहाँ शकुनि-वध केवल महाभारत में था, आश्रम में पक्षि-हत्या नहीं। पुराणे वायुप्रलपितम्—वायुप्रलपित (वायु-द्वारा प्रवचन) उस नाम के पुराण में था, मुनियों में (उन्माद-रोग) नहीं। वयःपरिणामेन द्विजपतनम्—द्विज-पतन (दाँतों का गिरना) बूढ़ी उम्र में होता था, आश्रम में ब्रह्मचारियों का स्तनन नहीं। उपवनचन्दनेषु 'जाड्यम्—जड़ता (शीतलता) उपवनों के चन्दनों में थी, मुनियों के पास (जाड्य = प्रज्ञा-हीनत्व) नहीं। अग्नीनां भूतिमस्त्वम्—भूति (भस्म) अग्नियों में होती थी, मुनियों में (अमीरी) नहीं। एणकानां ' 'व्यसनम्—गान सुनने की आसक्ति मृगों की ही थी, मुनियों की नहीं। शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः—नृत्य-पक्षपात (नाचते समय पंखों का गिरना) मोरों में होता था, मुनियों में (नृत्य की अभिरुचि) नहीं। भुजङ्गमानां भोगः—भोग (शरीर) सर्पों में था, मुनियों में (वासना-सुख) नहीं। कपीनां श्रीफलामिलापः—श्रीफल (विल्व-फल) की इच्छा वन्दरों को होती थी, मुनियों को (लक्ष्मी के फल की) नहीं। मूसानाम् अधोगतिः—अधोगति (नीचे फैलना) वृक्षों की जड़ों में थी, मुनियों में (अधःपतन) नहीं।

अब आश्रम में विराजमान ऋषिजावालि का वर्णन किया जाता है। सारे द्वितीयान्त एकवचन पद 'जावालिम्' के विशेषण है। तत्र च तापस' ' उपविष्टम्—जावालि एक ऐसे लाल अगोक वृक्ष के नीचे छाया में बैठे हुए थे, जिसके आलवाल में तपस्वि-कन्याओं ने पीले ऐपन (पीतपिष्ट) से पंचांगुल छापे लगाए थे और गोलाकार होने से जिसकी छाया (अवकाश) बहुत फैली हुई थी। स्वयं ' 'संविभागम् इव कुर्वाणम्—स्विरता से पर्वतों की, गम्भीरता से समुद्रों की, शान्ति से चन्द्रमा को तथा स्वच्छता से आकाश

को मानो हिस्मा (सविभाग) दे रहे थे। स्वकीयवस्तुन किञ्चित्किञ्चिदा-
 दाय परेम्य प्रदाने सविभाग । वनतेयम् पत्यम्—जिस प्रवार गरुड ने
 अपने प्रभाव से पक्षियों (द्विजों) पर स्वामित्व प्राप्त किया था (उपासम् =
 अजितम्), उसी प्रवार जाबालि ने अपने तेज से विप्रों (द्विजों) पर आधि-
 पत्य पाया था। कमला गुरुम्—ब्रह्मा (कमलासन) (ब्रह्मचय आदि
 चार) आश्रमों के नियन्ता (गुरु = नियामक) हैं, उसी प्रकार वह
 उस सप्तोमूमि (आश्रम) के नियन्ता (गुरु = आचार्य) थे। जरत्
 जटाकुलम्—जैसे पुराणा (जरत्) चन्दन-शृक्ष श्वेत जटा-जैसी साँप
 की केंचुली से ढका रहता है, वैसे ही वह भी साँप की केंचुली-जैसी
 धवल जटाओं में व्याप्त थे। प्रशस्त कर्णबालम्—जैसे किसी उत्तम
 (प्रशस्त) हस्तिपति (हाथियों के नायक) के बान और (पूँछ के) बाल
 नटवते रहते हैं, वैसे ही उनके बानों के बाल (काटे न जाने के कारण)
 लम्बे थे। बृहस्पति कचम्—जैसे सुराचार्य बृहस्पति ने अपने पुत्र कच
 को जन्म से पाल-पोसकर बड़ा किया था (सर्वाधत), वैसे ही उन्होंने भी
 जन्म से अपने केश (कच) बढ़ा रके थे। दिवस मुखम्—जैसे दिन
 का आरम्भ (मुख) उगते हुए सूर्य-मण्डल से दीप्तिमान् (भास्वर) रहता
 है, वैसे ही उनका मुख-मण्डल भी उदीयमान सूर्य-बिम्ब की तरह प्रकाश-
 मान् था। शरत् वर्षम्—क्षीण वर्षावाली शरद्-ऋतु की तरह उनके भी
 वर्ष (आयु) क्षीण हो चले थे। [५० ६१] शन्तनु व्रतम्—जैसे शन्तनु
 को भीम (सत्यव्रत) प्रिय थे, वैसे ही उन्हें सत्य का व्रत प्रिय था।
 अम्बिका निपुणम्—जैसे पार्वती (अम्बिका) का हाथ भगवान् शङ्कर
 की आँख-रूपी (ह्रदाक्ष) बलय को ग्रहण करने में निपुण होता है, वैसे ही
 उनका हाथ भी ह्रदाक्ष की माला फेरने में कुशल था। शिशिर सङ्गम्—
 शीत-ऋतु के सूर्य शमश उत्तर दिशा से सम्बन्ध (उत्तरा + सङ्ग)
 स्थापित कर लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उत्तरीय वस्त्र (उत्तरं + आसङ्ग)
 धारण कर रखा था। यशवा भक्षम्—जैसे बडवानल (समुद्राग्नि)
 गर्वदा केवल पानी (पय) पीता रहता है, वैसे ही वह भी नित्य दुग्ध

(पयः) — मात्र पीते थे । शून्य शरणम्—जैसे किसी जन-शून्य नगर में घर-द्वार (शरणानि = गृहाणि) शोभाहीन (दीन), स्वामि-रहित (अनाथ) और नष्ट-भ्रष्ट (विपन्न = विनष्ट) हो जाते हैं, वैसे ही वह दोनों, अनाथों और विपत्तिग्रस्त लोगों के रक्षक (शरण) थे । पशु शरीरम्—जैसे महादेव (पशुपति) का शरीर भस्म से तफेद बने रोओ से व्याप्त रहता है, वैसे ही उनका शरीर भी भस्म-जैसे श्वेत रोओ से व्याप्त था ।

अथ मुनिविषयकः विचारः । अवलोक्य च अहम् अविन्त्यम्—महर्षि जादालि को देखकर वैशम्पायन शुक सोचने लगा । अहो प्रभावः तपसाम्!—अहा, तपस्या का भी कैसा प्रभाव है ! इयमस्य तेजांसि—इनकी यह तपे हुए सोने के समान उज्ज्वल (अवदात) मूर्ति (स्वरूप), शान्त होते हुए भी, विजली-सी चमचमा रही है, जिसे देखकर आँखों की ज्योति भी हतप्रभ हो जाती है (अर्थात् आँखें चकाचाँध हो जाती हैं) । सततम् गतस्य—निरन्तर उदासीन बनी रहने पर भी (इनकी यह मूर्ति) सर्वप्रथम आनेवाले व्यक्ति में भय उत्पन्न कर देती है, ऐसा है इनका महाप्रभाव । पुण्यानि दर्शनानि—महामुनियों का नाम लेने से भी पुण्य होता है, फिर दर्शन की तो बात ही क्या ! बहलाज्य तपोवनम्—धी की आहुति से उठनेवाली प्रचुर धूम-राशि से जिनका आश्रम मलिन हो रहा है, ऐसे भगवान् जादालि के प्रभाव से मानो भय-भीत होकर सूर्य-किरणों का समूह भी तपोवन को दूर से छोड़ जाता है । एते च आशुशुक्षणयः—जिनकी लपटें (शिखा-समूह) हवा से चंचल होकर उकट्टी हो गई हैं और इस तरह मानो (आहुति पाने के लिए) हाथ पसार रही हैं, ऐसी होमाग्निर्या (आशुशुक्षणयः) महर्षि के प्रेम के कारण मन्त्रों से पवित्र की गई आहुतियों की प्रेमपूर्वक ग्रहण कर रही हैं । पवनेन लोलः चपलः पुञ्जीकृतः च शिखाकलापः ज्वालासमूहः येषां ते तादृशाः । 'शिखावान् आशुशुक्षणिः' इत्यमरः । एतत्प्रीत्या—एतत्प्य महर्षिजादालेः प्रीत्या स्नेहेन । तरलितं गन्धवाहः—आश्रम-लताओं के फूलों की तृप्तिकर मुगन्ध (सुरभिपरिमलः) से युक्त यह पवन महर्षि के

शमी वस्त्र-जंमे बल्कल को हिलाकर, मानो डगते-डरते (सशङ्क इव), धीरे-धीरे बहता हुआ, इनके समीप आ रहा है। 'सुरभिघ्राणतपण' उत्पन्न । तरलित कम्पित दुबूलवत् क्षीमवसनवत् बल्कल येन स तादृश । प्रायो तेजासि—(सिंह, हाथी जादि) महाप्राणियो के भी तेज का बड़ी कठिनाई में सामना किया जा सकता है । महानूतानाम्—महाजन्तुना मृगपतिमजादीनाम्, पृथिव्यादीना वा । दूरनिम्नवानि—दुःखेन अतित्रमितु शक्यानि । सवतेजस्विनाम् अथ अग्रणी—(फिर यह तो) समस्त तेजस्वियो में अग्रगण्य है ।

१.

प्रवाह करणारसस्य—करण रस के प्रवाह । सन्तरप०—सत्तार-सागर तरने के लिए सेतु । आधार ०—क्षमा-रूपी जल के आवार । परशु ०—तृष्णा-रूपी लताआ के जगल (गहन) को काटने के लिए कुल्हाड़ी । उपदेष्टा०—मोक्ष-पथ के उपदेशक । अस्तगिरि०—दुष्ट ग्रहों के अस्ता-चल । मूलम् ०—शान्ति-रूपी वृक्ष को जड़ । नानि ०—बुद्धि-रूपी चक्र को नाभि (केन्द्र-स्थान) । स्थिति०—घर्म-रूपी ध्वजा को स्थिर रखनेवाले वांस । स्थितिवश = अवस्थानवेणु । तीर्थम् ०—समस्त विद्याओं के प्रवेश (अवतार) के लिए तीर्थ । बडवानल—लोभ-रूपी समुद्र (को मोक्षने) के लिए बडवानल । निक्षयो०—शास्त्र-रूपी रत्ना की कमींदी (निक्षयापल = उत्कृष्टपिपुत्रपरीक्षकप्रश्नर) । दावानल ०—विषया में आसक्ति-रूपी पत्ते (को जलाने) के लिए दावाग्नि । मद्र ०—श्रीश-रूपी सप (के बर्शाकरण) के लिए मन्त्र । दिवस०—भाह (जान)-रूपी जंघेरे के लिए सूर्य । अर्मला०—नरक-द्वारों के जर्गला-वध (कपाटप्र-प्रकरणकीनक, दरवाजा बन्द करने की कुडी) । [पृष्ठ ६२] कुलभवन०—सदाचारों के कुल-परम्परागत आश्रम-गृह (कुलभवा, मूलगृह) । आपतनम् = निरेजनम् । अभूमि ०—जह-द्वार-वृत्तियों के लिए धपात्र । उत्पत्ति—जन्म-स्थान । नेमि ०—जन्माह (जघ्यवमाय)-रूपी चक्के के नेमि (प्रान्त-भाग) । आश्रय ०—सत्त्वगुण के आधार । शनिपक्ष०—कनिषुग के शत्रु । शोश = निधि,

भण्डार । क्षेत्रम्०—सरलता के उत्पत्ति-स्थान । प्रभवः०—पुण्यों के जनक । अदत्ता०—ईर्ष्या-द्वेष-को जिन्होंने (अपने अन्दर) कोई स्थान नहीं दिया है । अरातिः विपत्तेः—विपत्तियों के शत्रु (वराति.) । अस्वानं परिभूतेः—अनादर के लिए अनुपयुक्त । अननुकूलो०—अभिमान के लिए प्रतिकूल । असम्मतो दैन्यस्य—क्षुद्रता या हीनता के सम्मत या इष्ट नहीं । अनायत्तो रोजस्य—क्रोध के अधीन नहीं । अनायत्तः—अवशगः, अनधीनः । अनभिमुखः सुखानान्—सुखो की ओर इन्होंने कभी मुख नहीं किया । अनभिमुखः—अनिच्छकः ।

अस्य भगवतः तपोवनम्—इन्हीं भगवान् जाबालि के प्रसाद से तपोवन में (प्राणियों की) परस्पर शत्रुता मिट गई है और उनका द्वेष-भाव दूर हो गया है । अपगत दूरीभूतः मत्सरः परगुणोत्कर्षसहन यस्मात् तथाविध व्रतंते । अहो—आश्चर्यम् । हि—क्योकि । अत्र अनुभवन्ति—यहाँ पशु-पक्षी भी अपनी चिरकालीन पारस्परिक शत्रुता त्यागकर शान्त चित्त से आश्रम में रहने का सुख उठा रहे हैं । तथाहि—उदाहरणार्थ । अभिनव अहिः—यह साँप ब्रूप से घबराकर (आतपाहतः) मोर के पंखों में नई घास के ढेर की तरह निर्भय प्रवेश कर रहा है । शेष द्वितीयान्त पद 'कलापम्' (मोरपल) के विशेषण है । विकसितोत्पलवनरचनानुकारिणम्—विकसित विकसित यद् उत्पलवनं नीलकमलवनं तस्य रचनायाः निमित्तेः अनुकारिणम्, विकसित नीलकमल-वन की सृष्टि का अनुकरण करने-वाले । उत्पलच्छास्त्रचन्द्रकशतम्—उत्पलत् ऊर्ध्व गच्छत् चार मनोहरं चन्द्रकशतं मेचकगतं यस्मिन् तम्, ऊपर उठे हुए सैकड़ों मनोहर चन्द्राकार चिह्नों से अंकित । हरिणलोचयुतिशबलम्—हरिणस्य या लोचन-युतिः नेत्रकान्तिः तद्वत् शबलं कर्बुरम्, हिरनो के नेत्रों की शोभा की तरह रग-विरंगे । अयम् उत्सृज्य सिहोस्तनम्—सिंह के बच्चों से जिनकी अयाल अभी उगी नहीं है, हिला हुआ यह मृग-छीना अपनी मा को, छोड़कर शेरनी के दस्त दूधवाला स्तन पी रहा है । अजातकेसरैः—अनुत्पन्नसर्पैः । एषः मृगालः—मृगपतिः—हाथी के दन्धे सिंह को चन्द्र-रश्मि

के समान शुभ्र अमाल को कमल-नाल (मृणाल) समझकर खींच रह हैं और वह शृगपति अपनी जाँखें मूँदकर इस अनुभव का आनन्द उठाता है। मृणालान्नाम विसाना कलाप ममूहम् आशङ्कन्ते तच्छीला तं द्विरदाना हस्तिना कलभे पोतं आकृष्यमाणम् अवकृष्यमाणं शशिकरधवल चन्द्र-किरणवद् विशद मटाभार केसरसमूह आमीनिते निमीनिते मोचने येन तादृश मन् बहु मन्यते । इदमहि फलानि— य वानरगण अपनी स्वाभाविक चपलता को छोड़कर स्नान किये हुए मुनिवृत्तारों को (भोजन के लिए) फल लाकर दे रह है। एते च न निवारयन्ति करिण — ये हाथी मद से अन्धे होने पर भी, दया-वश उन भीरो को कान हिलाकर नहीं उठाते, जो उनके गण्डस्थल पर निश्चय हाकर मद-जन पी रहे हैं। किं बहुना— और तो क्या ! तापसाग्नि भगवत — भगवान् जावानि के ये छालवाले (बल्वलिन), फल-मूल-धारी, निश्चेतन वृक्ष भी, तपस्वियों के अग्निहोत्र से निरन्तर उठती हुई धूमलेखात्रा के रूप में कृष्ण शृग-चर्म का उत्तरीय पहने हुए, मुनियों का धन साधने हुए दिग्गर्द देते हैं। तापमाना मुनीना यानि अग्निहोत्राणि तेषा धूमलेखाभि दहनवेतन-पक्विभि । उत्सर्पन्तीभि उत्तिष्ठन्तीभि । अनिद्य मन्तनम् । उपपादिता विहिता कृष्णाजिनोत्तरासङ्गस्य कृष्णमारशृगचमरचिनोत्तरीयस्य शोभा कान्तिरिव शोभा येषु ते तादृशा । किं पुन ०— फिर मचेतन प्राणियों की तो बात ही क्या है ।

१४—अतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्

राजकुमार चद्रापीठ को अमात्य शुक्लनाम द्वारा दिया गया प्रमत्त उपदेश मानो हर नवयुवक को लक्ष्य करके लिखा गया है और कवि के व्यापक सासारिक अनुभव का मार्मिक रूप में अभिव्यक्त करना है। यौवन

की दुर्बलताओं, लक्ष्मी के मद, धन की अस्थिरता, चाटुकारों की खूदा-मद एवं विषय-भोगों के आकर्षण को गद्याचार्य वाणभट्ट ने समीचीन दृष्टान्तों, उपयुक्त उपमाओं, तीखे व्यंग्यों और चुटीले कटाक्षों के साथ अंकित किया है तथा प्रकारान्तर से शील और संयम, आचार-शुद्धि और चारित्रिक स्थिरता का प्रभावशाली उपदेश दिया है। भारतीय आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप रचित यह भव्य उपदेश संस्कृत के गद्य-साहित्य में वैजोड़ है।

[पृ० ६३] निसर्गतः—स्वभावतः, स्वभाव से ही। अभानुभेद्यम्—(आगामी पद तमः के विशेषण हैं)—सूर्यरश्म्या अपि अनुच्छेद्यम्, जो सूर्य-किरणों से भी नहीं भेदा जा सकता। अरत्नालोकोच्छेद्यम्—न रत्नानां मणीनां आलोकेन प्रभवा उच्छेद्यं दूरीकर्तुम् योग्यम्, जो रत्नों के प्रकाश से भी दूर नहीं किया जा सकता। अप्रदीपप्रभापनेयम्—न प्रदीपप्रभवा दीपालोकेन अपि अपनयं दूरीकरणीयम्, जो दीपक के प्रकाश से भी हटाया नहीं जा सकता। अतिगहनं तमः यौवनप्रभवम्—दुर्दमनीयं तारुण्यजनितं तमः अज्ञानं विचारशक्त्यावारकम्, युवावस्था में उत्पन्न होनेवाले अज्ञान या अविवेक का अंधकार अत्यन्त अभेद्य होता है। समान भाव के लिए देखिए 'काव्यादर्श' (२।१२७)—'अरत्नालोकसंहायंमवायं सूर्यरश्मिभिः। दृष्टिरोधकरो यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥' गर्भेश्वरत्वम्—गर्भात् प्रभृति गर्भसम्भवात् आरभ्य ईश्वरत्व धनसम्पन्नता, गर्भं अर्थात् जन्म ये ही धन-सम्पत्ति। अभिनवयौवनत्वम्—नूतनं तारुण्यम्, उठती जवानी। अप्रतिमरूपत्वम्—अनुपमं सौन्दर्यम्। अमरानुपशक्तित्वम्—अलौकिकसामर्थ्यम्। चकारः समुच्चयार्थः। इति समाप्ती। महती इयं खलु अनयंपरम्परा—अनर्थकारी वस्तुओं का यह निश्चय ही बड़ा विकट मंथन है। सर्व... आपतनम्—इनमें में प्रत्येक (वात) सब प्रकार के अकितियों (दुष्कर्मों) का घर है। किमुत समवायः—फिर इन सबके समूह का तो कहना ही क्या ! 'हितोपदेश' में भी ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है—'यौवनं धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकित्वा। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥'

शास्त्र निर्मल अति—शास्त्रम् ज्ञानम् एव जन तेन यत्प्रपालन
 शोधन तेन निर्मला अपगतमया अति, निगत ज्ञानरूपमा यस्या तादृशी
 अति, शास्त्रो के (अध्ययन-रूपी) जन से बृहत्तर निमल होने पर भी ।
 कालुष्यम्, उपर्यात—मात्रिण प्राप्नोति, सदसद्विवेकाश्रमा भवति
 इत्ययं, कान्ति (मलिन) हो जाती है, मन् जोर अस्तु रा विनेन यो
 दती है । अमु दृष्टि—युवको यी दृष्टि, अपनी मफेदी को न छोड़ते
 हुए भी, सराग (गान वाननाद्युक्त) हो जाती है । अनुश्रितपक्वता—
 न उच्चिता न यत्नता घञलता इत्येता यथा सा । सरागा—रागेण सह
 वर्तमाना, राग रक्तत्वम् इति निरोध, पक्षे राग विषयाभिलाष इति
 परिहार । अपहरति प्रकृति—युवावस्था-में मनुष्य की प्रकृति, जिसमें
 रजोगुण के कारण भ्रम हो जाता है (सभी बातें उतली लगने लगती हैं),
 मनुष्य को स्वयं दूर रीति ले जाता है, वैसे ही जैसे मरुष्टर (बाया),
 जिसमें धूग चक्कर दाधकर उटती है, अपने में पडे मूले पत्ते की दूर उडा
 ले जाता है । समुद्भूतरजोधाति (प्रकृति और वात्स्या होना का निरो-
 धण)—(१) समुद्भूता समुत्पन्ना रजसा रजोगुणेन ध्रानि घ्नय यस्या
 ना प्रकृति, जिसमें रजोगुण के आविषय से वस्तुओं का भ्रान्त ज्ञान होना
 है । रजोगुण के अनिरेत में मन वास्तनामय हो जाता है और विवेक कम
 हो जाता है । तुनना कीदृश—'रजो रागात्मक विद्धि तृष्णासद्गसमुद्भवम्,
 'नोम प्रवृत्तिरारम्भ वर्मणाभ्याम् स्पृहा । रजस्येतादि जायन्ते विरुद्धे
 मस्तर्थाः ॥' (२) समुद्भूता रजसा रणुता प्रम भ्रमः, यस्या सा
 वात्स्या वातमया, जिसमें धूग चक्कर दाधकर उटती है । इन्द्रियहरिण-
 हरिणी—इन्द्रियाणि वरानि एव हरिणा तेषा हरिणो विनोभिनी,
 इन्द्रिय-रूपी मृगों का कुमाने-रानी । अतिदुर्गता—विनाशकारी परिणाम-
 वाली, अर्था अतर्ही । उपभोगमृगतृष्णा—उपभोग सत्त्वस्वर्गादि-
 त्पमोवभोग एव मृगतृष्णा भ्रमररीचिका, विषय-भोग-रूपी मृगतृष्णा ।
 नव मनस—ई जवानी में जाहमा के विह्वल (कफायित) होने पर
 मन को भिन्न-भिन्न विषय-भोग, आस्वादन विषे जाने पर, वैसे ही अपि-

मधुर लगते हैं, जैसे मुँह के कसैला हो जाने पर जल अधिक मीठा लगने लगता है। नाशयति... द्विपथेषु—विषयो मे अत्यन्त आसक्ति मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती है और अन्त में उसे नष्ट कर देती है, जैसे दिग्भ्रम मनुष्य को गलत रास्ते पर डालकर कष्ट देता है। दिङ्मोहः—(१) मार्ग-भ्रष्ट हो जाना; (२) दिग्-भ्रम। उन्मार्गप्रवर्तकः—(१) उत्क्रान्त-मार्गात् उन्मार्गः कुपथः तत्र प्रवर्तयति इति, अन्मनुष्य को बुरे रास्ते ले जाता है अथवा धर्म-पथ से विचलित कर देता है (अत्यासङ्गः के पक्ष में); (२) उन्मार्गो अपथे प्रवर्तयति इति, गलत (अन्यत्र ले जानेवाले) रास्ते पर लगा देता है (दिङ्मोह के पक्ष में)। गुरु... अन्यस्य—गुरुओं के साक्षे-सरल वाक्य दुष्ट या अयोग्य व्यक्ति के कानों में पड़कर उसे अप्रिय लगत हैं, जैसे जल, निर्मल होने पर भी, जब कान में भर जाता है, तो पीड़ा पहुँचाता है। अमल—(१) सरल भाववाले (गुरु-वचन); (२) निर्मल, स्वच्छ (सतिल)। श्रवणस्थितम्—(१) सुने हुए (गुरु-वचन); (२) कान में भर जानेवाला (जल)। शूलम्—(१) कटु; (२) पीड़ा। अभव्यस्य—भवति इति भव्यः साधुः, सः न भवति इति तस्य असाधोः, यद्वा अयोग्यस्य। अपगत... गुणाः—जब मन दोष-रहित हो जाता है तभी उसमें उपदेश की हितकारक वाते घुसती है, जैसे साफ की गड़ स्फाटक-भण्ड में ही चन्द्रमा की किरणें (रजनिकरगभस्तयः) प्रवेश कर सकती हैं। अपगतमले—(१) अपगता मलाः संशयविषय-मोहादरूपाः यस्मात् (मन के साथ); (२) अपगत मलः कानुष्यं यस्मात् (स्फाटक के साथ)। तुलना कीजिए—‘प्रभवति शुचिर्विम्बोद्-ग्राहं मण्डितं मृदा क्व.’; ‘धीरेषु सत्कविबन्धो लभते विकासम्।’ आगे के वाक्य में गुरुपदेश की भव्यता का रूपकात्मक वर्णन किया गया है। अखिल... स्नानम्—गुरु का उपदेश एक ऐसा स्नान है, जो जल के बिना ही किया जाकर समस्त (अज्ञानजन्य) मल को दूर कर देने की सामर्थ्य रखता है। अनु... वृद्धस्यम्—गुरुपदेश वृद्धावस्था की तरह है (वृद्धावस्था के अनुभव आदि गुणों को उत्पन्न कर देता है), जिसमें सफेद बालों के

आ जाने से (शरीर में) कुरूपता नहीं हाती और मनुष्य (आयु से) बूढ़ा नहीं होता। मनु ने वृद्ध की परिभाषा इस प्रकार की है—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलित शिरः। यो वै युवाऽप्यधीयानस्त देवा म्यविर विदुः ॥' अनारोपित करणम्—अनारोपित अकारित मेदस वसाया दोष येन एवभूत गुणकरण स्थूलीकरणम्, गुरु का उपदेश शरीर में मेदस् (चर्बी) बढ़ाए बिना ही मनुष्य को भारी कर देता है (महत्त्वपूर्ण बना देता है)। असुबणं भरणम्—नास्ति सुवस्य विरचन घटना एतादृक् कर्णभरण कर्णभूषणम् जगाम्य सुदृग् च, गुणपदेश एक ऐसा कान का आभूषण है, जो न तो सोने का बना है और न ग्राम्य (गंवास्) है, अर्थात् गुरु का उपदेश, श्रवण करनेवाले व्यक्ति का मम्य और शिष्ट बना देता है। अतीत-ज्योति आलोक—यह बिना दीपक का प्रकाश है, अर्थात् गुरु का उपदेश अन्य सब प्रकारों से विलक्षण है, वह अन्त करण में जलकर प्रकाश करता है और अज्ञानाधिकार को दूर करता है। न उद्वेगकर प्रजागर—यह वह जागरण है (कर्तव्य और धर्म के प्रति जागरूकता है), जो कष्ट नहीं देता। विशेषेण तु राज्ञाम्—ये मंत्र बाने राजाओं के लिए विशेष रूप से सुनने-योग्य हैं। अहङ्कार कारिता—अहङ्कार एवं दाहज्वर सन्तापकारी ज्वर तेन या मूर्च्छा तथा अन्कारिता लुप्तमज्ञा, जह्वार-रूपी दाहज्वर से जानेवाली मूर्च्छा ने तिमकी चेतना मिटा दी है। विह्वला—व्याकुल, उत्तम-ज्ञान-शून्य। राजप्रकृति—राजाओं का स्वभाव। अतीवा कारीणि—अतीव मिथ्या य अभिमान गर्वं आत्मसुरसर्पारोप वा म एव उन्माद व्याधि विशेष, यद्वा अतीवाभिमानेन य उन्माद चित्तविभ्रम त कुर्वन्ति एवशीलानि धनानि, धन भूटा अभिमान-रूपी उन्माद-रोग (चिन्-भ्रम, अविवेक) पैदा करनेवाला होता है। तुनना कीजिए—'मदवन्वुद्धता दोषा यन्मादुन्मार्गमाश्रिता। मान-सोऽप्यमत्रो व्याधिरुन्माद इति वीरिभ ॥' मुशुत। राज्यविपरिवारतन्द्रा-प्रदा—राज्यम् एव विप तेन य विकार विवृति तेन कृता या तन्द्रा प्रमीता तत्प्रदा, राज्य-रूपी विप के प्रभाव से आनेवाली तन्द्रा (अविवेक-

क्रिता) देवेवाली ।

कल्याणभिनवेशी—कल्याणे मङ्गले अभिनवेश. आग्रहः यस्य एव-
भूतः त्वम्, कल्याणकारी कार्यो को करने मे कटिबद्ध । चन्द्रापीड को
इस विशेषण से सम्बोधित कर शुकनास यह संकेत करता है कि वह इस
उपदेश को सुनने का अधिकारी है । आलोकयतु—विचारयतु । शुकनास
अब लक्ष्मी के दोषों का वर्णन करता है । [पृष्ठ ६४] दूठगुण०—दूढ
गाढं गुणाः शौर्यादयः, यद्वा 'सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाययः' इति
पद्मगुणाः नीतिशास्त्रसम्मताः गुणाः, ते एव पाशाः तैः सन्दानं बन्धनं तेन
निष्पन्दीकृता अपि निश्चलीकृता अपि; रस्सी के फन्दे के मजबूत बन्धन
से जकड़ी होने पर भी; अथवा शौर्य, औदार्य, या राजनीति में कथित
पद्मगुणों आदि से परिश्रमपूर्वक उपाजित करके स्थायी बनाए जाने पर
भी । न अभिजनम् (कुलम्) ईक्षते—ऊँचे कुल का विचार नहीं करता ।
कुल ऊँचा हो और घनाढ्य भी हो; यह आवश्यक नहीं । न वैदग्ध्यं
गणयति—चतुरता को भी कुछ नहीं समझती । चतुर पुरुष भी धन नहीं
प्राप्त कर पाते । त स्यागम् आद्रियते—त्याग (दान) के लिए भी अपने
मन में आदर नहीं रखती । कञूस के घर में भी लक्ष्मी देखी जा सकती
है । विशेषज्ञताम्—विशेषण सर्वार्थवेदिताम् । अब कवि उत्प्रेक्षाओं द्वारा
लक्ष्मी की अस्थिरता का वर्णन करता है । कमलिनी०—कमलिनीषु संचरण-
व्यतिकरेण संचरणयोगेन लम्बा. नतिननालस्य कण्टकाः यस्याः यद्दत्,
मानो कमलिनी-बनों में घूमने से इसके पैर में कमल-नाल के काँटे लग
गए हों, इसलिए न क्वचित् निर्भरम् आवधनाति पदम्—कहीं निश्चिन्त
होकर पैर नहीं रखती । पदम् का अर्थ स्थान भी हो सकता है; काँटा
लगा होने के कारण वह कहीं बैठने का स्थान निश्चिन्त होकर नहीं
बनाती या नहीं बैठ सकती । यथा यथा... उद्धमति—ज्यों-ज्यों वह संचल
लक्ष्मी अपना प्रकाश दिखाती (किसी मनुष्य के पास रहती) है, त्यों-त्यों
वह काले (बुरे) कामों को ही उत्पन्न करती है, जैसे दीपक की लौ ज्यों-
ज्यों जलती है, त्यों-त्यों काजल ही पैदा करती है । निर्भरम् उपप्लुढः—

प्रगाढ आलिङ्गन किया हुआ । ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसके पास लक्ष्मी सदैव रहती हो । विप्रलब्ध — ठगा हुआ । जब मनुष्य को धन मिल जाता है और वह उसका उपभोग करने की सोचता है, तभी वह उससे हाथ धो बैठता है । आलेख्यगता अपि चलति—चित्र-लिखित होने पर भी चलती है । पुस्तकमयी अपि—पुस्तकों में केवल लिखी होकर भी । इन्द्रजालम् आचरति—जादू रचती है । उत्कीर्णा (उन् + कृ + क्त) — पत्थर आदि पर उकेरी हुई । विप्रलभते—धोखा देती है । अभिसन्धत्ते—संशय करोति । वञ्चयति = विप्रलभते ।

द्वैवशेन—दुर्द्वेन । परिगृहीता — स्वीकृता । विवल्वा - विह्वला , सर्वत हता द्वायर्थं । सर्वाविनय नच्छन्ति—सब प्रकार की बुराईयों के धर बन जाते हैं । अविनयानाम्—दुर्बुद्धीनाम् । दाक्षिण्य प्रक्षाल्यते—उनकी उदारता नष्ट कर दी जाती है । दक्षिणस्य भाव दाक्षिण्यम् । 'दक्षिण सरलोदार परच्छन्दानुवर्तिषु' इति शाश्वत । अपह्रियते—हर ली जाती है । उत्सार्यन्ते—दूरीक्रियन्ते । भ्रमवशचपलाभि (यह और आगे के दो तृतीयान्त पद 'सम्पद्भिः' के विशेषण हैं) — भ्रमवशेन प्रयासाधिक्वेन निधिल श्लथ अदृढ शकुने मयूरस्य अन्यस्य वा पक्षिविशेषस्य यं गल कण्ठ तस्य यत्पुट तद्वत् चपलाभि चञ्चलाभि, अधिव परिश्रम करने के कारण बके हुए मोर आदि पक्षियों के (हाँपते) गले के समान चंचल । मयूरस्य कण्ठ भ्रमवशेन अत्यन्त चञ्चल म्यात् इति तदुपमानम् । खद्योतो मनोहराभि—खद्योत ज्योतिरिङ्गण तस्य य उन्मेष अवभास तद्वत् मुहूर्त क्षण मनोहराभि चित्तहारिणीभि, जुगनु की चमक की तरह क्षण-भर मनोहर लगनेवाली । मनस्विजनर्गाहताभि—मनस्विजना पण्डित-लोका तैर्गाहताभि निन्दिताभि, बुद्धिमानों द्वारा निन्दित । प्रसोन्यमाना—लोभ प्राप्यभासा, लुब्ध किए जाकर । रागावेशेन बाध्यमाना—तीव्र इच्छाओं से पीड़ित होकर । आसन्नमृत्यव इव०—उन लोगों की तरह जिनकी मृत्यु समीप ही है, वे स्वजनों को भी नहीं पहचानते । नामिद्वानन्ति—नोपलक्षयन्ति । पापेन इव आध्मातमूतय (स्थूलदेहा) —

मानों पाप से मोटे होते जाते हैं । व्यसन उपगताः—व्यसनानां शूता-दीनां शतं तस्य सख्यातां मित्रताम् उपगता प्राप्ता, भैकड़ों व्यसनों (बुरी खादती) से उनकी मित्रता हो जाती है । चल्मीक विन्दवः इय वाँवियों के ऊपर उगनेवाली घास के अग्रभाग में स्थित जल-कणों के समान ।

राजाओं के दोष गिनाने के वाद अब श्रीमन्तो के दोष गिनाए जा रहे हैं । वाक्य इस प्रकार है—अपरे तु धूर्तः स्तुतिभिः प्रतापमाणा सर्वजनस्य उपहास्यताम् उपयान्ति । स्वार्थनिष्पादनपरैः—अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले; परैः=तत्परैः । आगे के पद 'धूर्तः' के विशेषण है । धनपिशितघ्रासगृध्रैः—धनं द्रव्यं तदेव पिशितं मांसं तस्य घ्रासे ग्रहणे गृध्रैः दूरदग्भिः यथा तथा द्रव्यार्जनपरैः इत्यर्थः, धन-रूपी मांस को खाने के लिए गीध के समान (लोलुप) । आस्थाननलिनीवकैः—आस्थानां राजसभा तदेव नलिनी कमलिनी तस्यां वकैः इव स्थितैः, राजसभा-रूपी सरोवर में खड़े हुए वगुलों के समान । शूलं विनोद इति दोषान् अपि गुणपक्षम् अध्यारोपयद्भिः—अर्थात् ये धूर्त लोग धनवालों को समझते हैं कि जुआ तो एक प्रकार का मनोरंजन है, पाप नहीं; शराब पीना विलास है, जापर-वाही (प्रमत्तता) साहस है, बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करना रवतन्त्रता है, अपनी इच्छानुसार कार्य करना प्रभुता का सूचक है, विना सोचे हुए ही शीघ्र काम करना उत्साह है, इस तरह दोषों को भी गुण बनाते हैं । अपरप्रणयत्वम्—परप्रणयत्वं परवशता तद्राहित्यं स्वातन्त्र्यम् इत्यर्थः । [पृ० ६५] प्रतारणकुशलैः—प्रतारणा यञ्चना तत्र कुशलैः अभिनैः । प्रारब्धभावाः—प्रारब्धाः याः दिव्योचिताः देवजनयोग्याः चेष्टाः क्रियाः ताभिः अनुभावः माहात्म्यं येषां ते तथा, बड़ों की चेष्टाओं का और उनके बहृष्पन् का मिथ्यानुकरण करनेवाले । उपहास्यताम् उपयान्ति—(प्राप्नुवन्ति)—सब लोगों के उपहास के पात्र बनते हैं । दर्शनं गणयन्ति—दर्शन देने को ही कृपा समझते हैं; लोकानां दर्शनप्रदानं स्वात्मप्रकटनम् अनुग्रहं प्रसादं गणयन्ति मन्यन्ते । दृष्टिं स्थापयन्ति—देख-भर लेने को उपकार कर लेना मान लेते हैं । स्पर्शम् आकलयन्ति—अपने स्पर्श को

ही पवित्र करनेवाला मान लेते हैं (आकलयन्ति = विचारयन्ति) । मिथ्या-
 माहात्म्यमर्वाभिभरा — मिथ्या वृथा यो माहात्म्यगर्वं माहात्म्याभिमान-
 तन निभरा भूता, अपने झूठे बढप्पन के अभिमान से भरे हुए । अम्यु-
 त्तिष्ठान्त = उत्थान कुवन्ति । जरा उपदेशम् — जरा वार्द्धवय तस्या-
 वंक्तव्य विकलता तेन प्रलपित जल्पितम्, वृद्धो के उपदेश को बुझाये में
 विकल हुई बुद्धि का प्रलाप (बकवास) समझते हैं । आत्म देशाय —
 मदिवा का मन्त्रणा को अपनी निजी बुद्धि की हार मानकर उससे ईर्ष्या
 करत ह । 'ऋषद्बुद्धिप्यार्याना य प्रति कोप' सूत्र के अनुसार 'असूयन्ति' के
 याग म 'सचिवापदश' में चतुर्थी हुई है । पादर्वे कुवन्ति — बगल में बैठ
 लते हैं । सवधयान्त — वृद्धि प्रापयान्त । आप्तताम् आपदयन्ति — शिष्टता
 प्रतिपादयान्त, उसे शिष्टता की कोटि प्रदान करते हैं । उपरचिताञ्जलि —
 हाथ आढकर । आघदवतम् — स्वाभी, इष्टदेव । विगतान्यकर्तव्य — अन्य
 वस्तुओं की उपेक्षा करक । माहात्म्यम् उद्भावयति — उसके बढप्पन को
 चढाता है ।

एवंप्राये — अधिकतर इस प्रकार के । राज्यतन्त्रे — राज्य-व्यवहार
 म । महामोहकारिण — अत्यन्त मोह उत्पन्न करनेवाले । न उपातम्यसे —
 मित्रो द्वारा तुम्हें उलाहना न दिया जाए । विटं. — असदाचरणकारिभि ।
 न अवतुष्यसे सबकबूकं — नहीं ऐसा न हो कि सेवक-रूपी भेडियो द्वारा
 तुम्हारा अनिष्ट कर दिया जाए । न प्रतोम्यसे — तुम्हें न किए जाओ ।
 यानता — सुदरी । न उन्मत्तीक्रयसे — उन्मत्त न बना दिए जाओ ।
 न आसिष्यसे — न प्रेयसे, वही विषय-भोग तुम्हें कुमार्ग पर न ले जायें ।
 न विकृष्यसे — आहृष्यसे, वश में न कर लिए जाओ । अपह्रियसे — परि-
 त्यज्यसे, कही सुख तुमसे मुँह न मोड लें । सरलहृदयम् — चचल-चित्त ।
 अप्रतिबुद्धम् — बोधरहितम् । भदयन्ति — समद कुर्वन्ति, नष्टे में कर देते
 हैं । अनिवातम् — बुलीनम् । बुविनीता — अपगनविनया इत्यर्थं । छली-
 करोति — सन्मार्गान् स्वतना प्रापयति, पथभ्रष्ट कर देती है । कुल
 धुरम् — कुल-परम्परा से प्राप्त उस उत्तरदायित्व का वहन करो,

जिसे तुम्हारे पूर्वजो ने भी उठाया है। अवनमय—नम्राणि कुरु, झुका दो।

१५—प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वै धर्मः

धर्म के सम्बन्ध में साधारण जनता का मन काफी उलझा रहता है। इस लोक को सुधारें या परलोक को, यह गुत्थी है जिसे जितना सुलझाओ, उतना उलझती जाती है। पर वास्तव में इस गाँठ को खोलने का ढंग बहुत सरल है। वह ढंग है वेदान्त। वेदान्त की दृष्टि से ही श्री गङ्गुराचार्य (७८८-८२० ई०) ने श्रीकृष्ण के गीतोक्त उपदेश की व्याख्या की है, जिसके अनुसार धर्म और कुछ नहीं, पूर्ण निःस्वार्थ भाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने कर्तव्य का पालन-भाव है।

सः वेदोक्तम्—प्रजापति ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टि की और उस सृष्टि को स्थिर रखने के प्रयोजन से (स्थिति चिकीर्षुः) सर्वप्रथम मरीचि आदि मुनियों को उत्पन्न किया तथा उन्हें वेदों में प्रतिपादित प्रवृत्ति-रूप धर्म का उपदेश दिया। चिकीर्षुः (कृ+सन्+उः) = विधित्सुः। प्राह्यामास (उपदिदेश)—ग्रह् + णिच्, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन। ततः प्राह्यामास—मरीचि आदि मुनियों की सृष्टि कर चुकने के अन्तर भगवान् ने पुनः सनक, सनन्दन आदि को उत्पन्न किया और उन्हें ज्ञान तथा वैराग्य आदि लक्षणाँ से युक्त निवृत्ति-रूप धर्म में दीक्षित किया। तत्र एकः हेतुः—सांसारिक जीवन की स्थिति, अर्थात् प्राणि-मात्र की लौकिक प्रगति (अभ्युदय) एवं पारलौकिक सद्गति (निःश्रेयस), धर्म के इन दो रूपों (प्रवृत्ति और निवृत्ति) में से प्रवृत्ति (तत्र एकः) पर आश्रित है। यः सः धर्मः—अनुष्ठीयमानः—चारों वर्ण तथा चारों आश्रम अपने-अपने श्रेय की इच्छा से इसी प्रवृत्ति-रूप धर्म का अनुसरण करते हैं।

अनुष्ठेयमान (क्रियमाण) — अनु + स्या + (कमवाच्ये) यक् + शानच् ।
 दीर्घेण अधर्म — (यह प्रवृत्तिमयी वर्णाश्रम-व्यवस्था) बहुत मुर्गी तब
 यथावत् चलती रही, किन्तु बाद में काम की प्रवृत्ति के बढ जाने से धीरे-
 धीरे लोगों का विज्ञान तथा विवेक नष्ट होना गया (हीयमाने) और
 इस प्रकार धर्म पर अधर्म हावी हो गया — अधर्म का ही बोलवाला हा
 गया । हीयमान हेतुकेन — हीयमानयो क्षीयमाणयो विवेकविज्ञानयो
 हेतुकेन हानी हेतुभूतेन (अधर्मेण) । जगत सम्बभूव — तब जाकर मृष्टि
 के पालक रूप भगवान् विष्णु अर्थात् नारायण को चिता हुई कि किस
 प्रकार इस स्थिति को सम्हाला जाए (स्थिति परिपिपालयिषु), किम
 प्रकार मृष्टि के मूल तत्त्व विशुद्ध (भोम) ब्रह्म की रक्षा की जाए, किस
 प्रकार ब्राह्मण-धर्म को सुरक्षित रखा जाए ? यह मोचकर वह वमुदेव के
 अक्ष से देवकी के गर्भ में भगवान् कृष्ण के रूप में जन्मे । परिपिपाल-
 यिषु — परि + पाल् + णिच् + सन् + उ । ब्राह्मणत्वस्य भेदानाम् —
 ब्राह्मण-धर्म की रक्षा ही सच्चे अर्थों में वैदिक धर्म की रक्षा है, क्योंकि
 सम्पूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्था एक ब्राह्मण-वर्ण की शुद्धता पर ही आधित है ।

स च भगवान् सम्पन्न — भगवान् तो सदा ही अपनी प्रवृत्ति के
 द्वारा ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज आदि में सम्पन्न हैं । त्रिगुणा
 बशीकृत्य — सो उन्होंने सत्त्व-रज-तमोमयी अपनी स्वभाव-निष्ठ (मूल)
 प्रवृत्ति (वैष्णवी मायाम्) को अपना साधन बनाया (बशीकृत्य) ।
 अबो लक्ष्यते — भगवान् तो स्वभाव से ही अजन्मा, अपरिवर्तनशील
 (अव्यय), प्राणि-मात्र के स्वामी हैं, सदा-सर्वदा अनासक्त (शुद्ध),
 चित्स्वरूप (रुद्र) तथा निर्लिप्त (मुक्त) हैं, फिर भी वह अपनी दैवी
 माया से शरीर धारण करने हैं (देहवान् जान), क्यों ? स्पष्ट है
 (लक्ष्यते), लोक-प्रेम के बशीभूत होकर । स्वप्रयोजनाभावेऽपि — इसमें
 उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था । भूतानुजिघृक्षया — भूतानुप्रहेच्छया,
 उनका हृदय तो प्राणि-मात्र के लिए एक-मा पसीज उठा था । जिघृक्षा
 (ग्रह + सन् + या) = ग्रहीतुम् इच्छा । वैदिक उपदिदेश — उव उन्हेंनि

कुक्षेत्र की रण-भूमि में शोक-मोह के महासागर में डूबे अर्जुन के प्रति इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप वैदिक धर्मका उपदेश दिया था। गुणाधिकः... समिष्यति इति—उन्होंने सोचा कि जब (अर्जुन-सरीखे) गुणी जन इस धर्म को अपनाकर इसे जीवन में उतारेंगे (अनुष्ठीयमानः), तब स्वभावतः इससे धर्म का प्रचार (प्रचय) स्वयमेव होता चलेगा। उपनिबन्ध—उप+ नि+बन्ध्, लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

निःश्रेयसं... भवति—(यदि मनुष्य के लौकिक अभ्युदय का रास्ता प्रवृत्ति है, तो) पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस) का मार्ग निवृत्ति है— निवृत्ति अर्थात् सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग (संन्यास) करने से उपलब्ध हुआ आत्म-बोध (आत्म-ज्ञान)। तथा इमम् एव .. उक्तम्—धर्म के इसी स्वरूप को हम गीता का धर्म कह सकते हैं, और वैसे कि स्वयं भगवान् ने 'अनुगीता' में कहा है—[पृ० ६७] स हि... वेदनम्—आत्मबोध ही धर्म का अपने-आपमें पूर्ण लक्षण है, इसीके द्वारा शाही स्थिति (ब्रह्मणः पदवेदनम्, ब्रह्मपदस्य वेदनम् आप्तिः उपलब्धिः) को प्राप्त किया जाता है। किं च इति—'अनुगीता' में ही पुनः कहा गया है कि जो पुरुष संसार से निरासक्त होकर (किञ्चित् अविन्तयन्) मौनपूर्वक एक ही आसन से (अन्तर्मुख हो) बैठ जाता है, उस पर धार्मिक-अधार्मिक, शुभ-अशुभ आदि विशेषण लागू नहीं होते। ज्ञान संन्यासलक्षणम्—(संन्यास का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य निठल्ला होकर बैठ जाए), आत्म-बोध की परम स्थिति का ही दूसरा नाम संन्यास है। इह अपि वक्ष—गीता में भी उपदेश के अन्त में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—यदि कल्याण चाहते हो तो (विविध) धर्मों के पचड़े को छोड़ मेरी शरण में आ जाओ।

अभ्युदयार्थः... वजितः—(निःश्रेयस एवं निवृत्ति के बारे में हम कह चुके) अब अभ्युदय एवं प्रवृत्ति के विषय में कहा जाता है। सामान्यतः अभ्युदय अथवा प्रवृत्ति का मार्ग वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए विहित है। यही नहीं, इससे मनुष्य देवत्व भी प्राप्त कर सकता है। इस

पर भी हर काय यदि ईश्वर के प्रति पूरा आत्म-समर्पण की बुद्धि में विया जाए, फल की आकांक्षा मन को छू भी न जाए (फल-जमिसन्धि-वर्जित) तो उसने अन्त करण की शुद्धि (मत्त्वशुद्धि) भी स्वतः हा हा जाती है। शुद्ध प्रतिपत्तने — जिम मनुष्य का अन्त करण शुद्ध हो गया, उसमें आत्म-बोध की योग्यता ही नहीं, आत्म-बोध स्वतः पनप उठता है और इस प्रकार अभ्युदय एव प्रगति का मार्ग भी निश्चयस एव निश्चिति में परिणत हा जाता है। यथा ब्रह्मपति—इसी को लक्ष्य करके (अभिन्न-ध्याय) गीता में कहा गया है। ब्रह्मणि आधाय आत्म-शुद्धये—योगीजन सर्वप्रथम मन और इन्द्रिया को बस में करते हैं और फिर ईश्वर के प्रति समर्पण-भाव से (ब्रह्मणि आधाय), सर्वथा निस्वार्थ होकर (सङ्ग त्यक्त्वा), कामकाज में जुट जाते हैं। उनका ध्येय एक ही रहता है—आत्म-शुद्धि।

१६—पितृवत् परकन्यासु

स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादन ध्यास (१८५८-१९००) के सुप्रसिद्ध-संस्कृत-उपन्यास 'शिवराजविजय' में लिखे गए प्रस्तुत अक्ष में शिवाजी और औरंगजेब की पुत्री रोसनारा का रोचक संवाद अंकित है। औरंगजेब ने अपने पुत्र और पुत्री के साथ एक विशाल वाहिनी 'पार्वतोन्दुर' (पहाड़ी घूँहे) शिवाजी का काम तमाम करने के लिए भेजी थी। पर उसे लेने-के-देने पट गए। शाहजादा और शाहजादी दोनों मराठों की बँद में पड़ गए। पर शिवाजी ने उनके प्रति शिष्ट और उदार व्यवहार किया। क्या आश्चर्य यदि इस 'लुण्ठनकरण के परिच्छेद' के प्रति वह भुगत. शाहजादी आर्कषित हो जाए। लेकिन छत्रपति ने उसके प्रति 'पितृवत् परकन्यासु', पराई लडकियों के प्रति पिता का-सा ही आचरण किया।

श्री अम्बिकादत्त व्यास की भाषा प्रासादिक और प्रवाहपूर्ण है। उनके संवाद स्वामादिक और रोचक बन पड़े हैं। 'शिवराजविजय' में ऐतिहासिक घटनाओं पर कल्पना का पुट चढ़ाकर एक हृदयग्राही कथानक प्रस्तुत किया गया है। उसमें कहीं-कहीं दण्डी और बाण की मूली की मफ़ल अनुकृति पाई जाती है। प्रवासकों ने उसके लेखक को 'अभिनव बाण' की भी उपाधि दी है।

[पृ० ६७] वेधा०—अर्थात् विधाता ने भ्रम दो प्रकार से उत्पन्न किया—स्त्रियों में और सोने में। दोनों में आसक्त न होनेवाला व्यक्ति मनुष्य-रूप में साक्षात् शंकर है।

रसनारी—रौशनारी (औरगजेव की पुत्री) का संस्कृत-रूप। मुख्य वाक्य है—तोरणदुर्गे रसनारी न वेत्ति स्म। काभिः—सहिता—उन दासियों के साथ, जो प्रायः मूर्च्छितावस्था में उठाकर लाई गई थीं और फिर होश में आ गई थीं। आसन्दो—कुर्ती। पत्न्यङ्गुः—पदङ्गु, पलंग। वितानम्—बंदोबा। तूलिका—गद्दा। उपबर्हः—तकिया। परिच्छदः—रंजाई। हन्याह्वास्तिका—महल की अटारी। अवच्छदा—निगृहीता। कंद की हुई।

'कव आयाता—कहां से आई हूँ ? केन संयता (बद्धा, बन्दीकृता)—किसने मुझे बन्दी किया है ? कि भावि—(अब) क्या होगा ? [पृ० ६८] तत्परि—स्म—अर्थात् रसनारी की परिचर्या करने के लिए महाराष्ट्र प्रदेश की कुछ दासियाँ थीं, किन्तु वे भी रसनारी द्वारा अनेक प्रकार में ललचाए जाने पर भी (प्रलोभित), विनयपूर्वक (सप्रथयम्) पूछे जाने पर भी, उन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं देती थीं।

आद्रिते—आदरं करोति। कस्य कश्चे आपतिता—किसके घर में आ पड़ी हूँ ? कः भनक्ति—कौन मेरी मर्दांश (मतीत्व) को अब तक भंग नहीं कर रहा है ? भनक्ति—भञ्ज्. लट्. प्रथमपुरुष एकवचन।

जय०—वापय का सम्बन्ध इस प्रकार है—अयंकदा अट्टातिकायां पयंतन्या यहूनाम् इव पादध्वनिः लधावि, अर्थात् तब एक दिन अटारी

पर चहलकदमी करते हुए उसे बहुतो की-सी पैरो की ध्वनि सुनाई दी । अध्याव (श्रुता)—थू, लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन, कमवाच्य । पठ्यो में आए सारे शब्द शाभा से सम्बद्ध हैं । रसनारी अटारी से इन-इन वस्तुओं की शोभा निहार रही थी । अभ्रोलहानाम्—अभ्र मेघम् आकाश वा सेदि वास्वादयति इति अभ्रलिह, तेषाम् अत्युच्चानाम् । कोकानाम्—चञ्चला-काणाम् । कोराणाम्—शुकानाम् । कुरराणाम्—पक्षिविशेषाणाम् ।

झाटांत—त्वरितम्, शीघ्रता से । द्वारो०—दरवाजे के ऊपर के क्षरोणे से । ईपत् श्यामल—विञ्चित् कृष्णवर्ण । भरक्त कमनीय—भरक्त-भरणे महामालया लमितेन मण्डितेन गलेन ग्रीवया कमनीय मनोहर, अर्थात् भरक्त-मणि (पन्ने) के विशाल हार से उसका गला सुशोभित था । सम्बाभोत (अतिशयन भवति)—सम् + भू + यङ् (क्रियासमिहारे) । पारबुद्ध लुण्ठकगणस्य—लुटेरो का सरदार । क्षुभता—व्याकुला । सम-वित्त (समवतत)—सम + विद्, लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

स्वोपवेशादेशम्—स्वावासभूमिम् । खिन्नान्—पक्षीने से तर । गण्डस्यलांम् (कपोलपालिम्)—गाल । पट्रान्तेन—आंचल के छोर से । परमाष्टि (ग्राञ्छति)—परि + मृज्, लट्, प्रथमपुरुष एकवचन, प्रोक्षा । प्रतिसीराम् (यवनिकाम्)—पदों को । उत्क्षप्य (उत्थाप्य)—उठाकर । शिरो विदधत्—सिर झुकाकर नमस्कार द्वारा शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए वही वीरवर दिखाई पडा । इयम्—रसनारी । आदरेद्भिस्तं—आदरसूचकचेष्टाभि । तद्वचन कर्णाभ्याम्—रसनारी के कान जैसे उमकी वचन-रूपी अमृत घारा को पीने के लिए उत्सुक थे । परमैक नयनाभ्याम्—अत्यन्त एकाग्रता (एवतानना) के कारण मानो जड़ीमूल बने नेत्रा से । चित्रापिता इव—चित्रलिखिता इव, चित्रनिधी-सी जान पड़ती थी । बद्धकरसम्पुट—कृताञ्जलि, हाथ जोड़े हुए । न च विन्दुम् अपि अयूत्—अर्थान् उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला । तदाकार मोहिता—उसकी आकृति, मञ्जना, सुन्दरता, गम्भीरता, शिष्टाचार आदि से मुग्ध ।

इयम् आसन्दो सनाध्यताम्—अर्थात् इस आसन पर बिराजिए । यह उक्ति आगन्तुक के प्रति वक्ता का अतिशय आदर प्रकट करती है । आज्ञाप्यते—आविश्यते । यह उक्ति भी अतिशय विनम्रता को सूचक है । [पृ० ६६] सार्धं हस्तोच्छ्वायायाः—जिसकी ऊँचाई (उच्छ्वायः) डेढ़ हाथ थी, अबसे सह विद्यमान. हस्तः, अर्थात् सार्धक. हस्त. औन्नत्यं यस्याः तस्याः (पीठिका का विशेषण) । सजल मध्यायाः—जिसके बीच में जल-सहित (फूलदानों में) पुष्प-गुच्छ (गुलदस्ते) रखे हुए थे । वर्तुलपीठिका—गोलाकृतिकाष्ठपीठिका, गोल मेज । प्राक् प्रत्यक्—पूर्व-पश्चिम । उपाविशताम् (आसिपाताम्)—उप + विश्, लुङ्, प्रथमपुरुष द्विवचन, बैठ गए ।

निजघन्यवादभाजनम्—अपने घन्यवाद के पात्र को । मान्यवदान्यम्—अत्यन्तादरणीयम् । आस्वादम् आस्वादम्—खाते-खाते । केकि-केकाः—मोरों की बोलियाँ । धावं धावम्—श्रुत्वा-श्रुत्वा । दशं दशम्—दृष्ट्वा दृष्ट्वा । उपत्यकाशाहलेषु—उपत्यका (पहाड़ की ललहटी) के हरे-भरे मैदानों में । शम्बरः—मृगविशेषः । शल्लकी—साही । शशकः—खरगोश । शिवा—लोमड़ी । दिनानि गमयामि—दिन बिता रही हूँ; निरर्थं यापयामि कालम्, इति भावः ।

कर्ण०—अर्थात् क्या श्रीमती ने शिवराज नाम के किसी मराठा वीर का नाम सुना है ? कर्णशण्कुलीम्—श्रोत्ररन्ध्रम् । अस्पर्शात्—सृष्ट्, लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन । पार्वतोन्मुख—पहाड़ी चूहा । घराकाः—दुष्टाः । आख्यान्ति—कथयन्ति । ह्रीषः—तज्जितः । समीपध्वम्—मुग्धतापूर्वक, भोनेपन से ।

धर्म—रहस्यम् । श्रीमत्याः तातचरणैः—आपके पूज्य पिताजी से । कदर्याणि—अतिनिन्दनीय । इग्धहृदयाः—जल-भुनकर । प्रचक्षते (कथयन्ति)—प्र + क्षा, लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन । विलोप्यन्ते—नष्ट कर दिए जाते हैं । [पृ० ७०] वाच्यपारित्तन्दोहैः—आयुष्यों की घाराओं से । क्षान्द्यन्तः—धोते हुए । धमद्—वदनाः—(भय के कारण) तेजी से

घडकती हुई नाडियो में ढीङ्गी रघिर-धारा से उनके चेहरे डरावने पड़ गए हैं। हस्ती उन्नमय्य—हाथ उठाकर। उच्छेदाद्य शपन्ते—समूल नष्ट हो जाने के लिए शाप देते हैं। आशिरासीन्—हेरी आशीर्वाद।

मोदन्ते—प्रसन्ननाम् अनुभवति। उद्वृत्तम्—प्रवटीकरणम्, जाति, नाम आदि प्रकट करना आवश्यक नहीं। तत ०—तब फिर मेरा अपहरण क्यों किया गया? विश्वम्भरा—परनी, युद्ध में प्रचुर रक्त-धाराओं से पृथ्वी देवी को नहलाया जा चुका है। बहुदक्ष ०—युद्ध में मारे गए वीरों की अनेक स्त्रियाँ रलाई जा चुकी हैं। सन्धातुम्—अर्थात् आपके जरिए आपके पिता से मन्धि की जा सके, इसका यत्न करने के लिए (आपको यहाँ लाया गया है)। मोद्गल—मुगल। साध्वसम्—भीति। यत्र हेल्पन्ते—युवकों के चित्त को आकर्षित करने वाले जति मधुर यौवन से समुक्त (आलिङ्गित) होने पर भी (अर्थात् नमयुवती होने पर भी) तथा मानो चावप्य के सारभूत तत्व से निर्मित होने पर भी (जन्त तपवती होने पर भी) शत्रु-बन्ध्याओं का जहाँ आदर किया जाता है, न कि निरादर। युयुजन्मनोमोहनेन—तरुणहृदयाकर्षणम्। कौभारात् परेण वपसा—साक्ष्येन। धातिङ्गिता—धातिलिप्ता, नमयुजन्त्य इत्यर्थः। सौ-दर्पसारविरचिता—चावप्यनत्त्वनिर्मिता। दुहितर—कन्या। अथहेल्पन्ते—निरस्त्रियन्ते। अत्र ०—इस विषय में स्वयं आप प्रमाण है, अब न पौनःपुन्यम्।

अपाङ्ग सारकेषु—अपाङ्गे नेत्रप्राप्ते क्षिप्ता प्रेरिता लोला चञ्चला सारका कनीतिका सम्य तेन लोचनेन नयनेन, चञ्चल नेत्रो को कौरो से। असदृश—अनेकवारम्। ईक्षमाणा—ज्वलोनयती। उरोजयो क्षिप्त्वा—स्तनो पर से निगडते वस्त्र को पुन बन्धो पर फेंककर। इससे रसनागी की शिवाजी के प्रति आसक्ति सूचिन होता है। मोदितसकलसमाज—मोदित प्रसन्नीकृत सकल समस्त समाज जनसमूह येन म, जिसने सारे समाज को प्रमन कर दिया है। दिदृक्षते—दृष्टुम् इच्छति, दृश् + मन्, सट्, प्रथमपुरष एकवचन।

[पृ० ७१] यो माम् सग्नयने—जो मुझ धृष्टना मे बातें करनेवागी

को. विनय और मनोहर शब्दों से इस प्रकार लज्जित कर रहे हैं।
 नम्रालापः—कोयलभापरणैः । यत्०—जो आप वन्यु के प्रति भी आदर प्रकट करने में प्रयत्नशील है।

१७—वृक्षाणां परिषत्

प्रस्तुत अवतरण में वृक्षों के मुँह से, वनस्पति-वर्ग के दृष्टिकोण से, मनुष्यों की आलोचना की गई है। महावन के एक निर्जन प्राङ्गण में पादपो की लंसद् हो रही है, जिसमें पयारे हुए हैं पुराने जटा-जूटवाने पितामहस्या-नीय महावृक्ष और ललित भंगिमावाली लता-वत्तनाएँ। सम्मेलन के सभा-पति अश्वत्यदेव (पीपल महाराज) है, जो अपनी वक्तृता में एक के बाद एक तर्क देकर यह सिद्ध कर रहे हैं कि ईश्वर की अन्यथा सर्वोद्गतुन्दर मृष्टि में मानव ही एक भद्रा वच्चा है। श्रोतागण बीच-बीच में दाब्बा-घर्षण आदि द्वारा यथावसर करतन-घोष करते, ध्वंग्यपूर्ण हँसी हँसते और हर्ष प्रकट करते हैं। सारा उद्धरण व्यंग्योक्तियों और आक्षेपों से परिपूर्ण है। पं० हृषी-केय शास्त्री भट्टाचार्य (१८५०-१९१६) की वींगी सग्न और प्राञ्जल है तथा ऐसी ताजगी और नवीनता लिये हुए हैं, जो 'मुद्रयति वदनचित्रं मृतभाषावादिनां मुहेराणाम्', संस्कृत को मृत भाषा कहने की घृष्टता करनेवालों का मुँह बन्द कर देती है।

[पृ० ७१] सञ्चालितपल्लवकराग्रः—पत्ते-रुपी हाथ के अग्रभाग को हिलाकर। वनस्पतिकुलप्रदीपाः—वनस्पतियों के कुल-दीपक। कुसुम-कोमलदन्तरचः—पुरुष के समान (अथवा, पुष्प-रुपी) कामल दाँतों की चमकवाली। तुलना कीजिए—'श्रुतिमुखभ्रमरस्वनगीतय कुसुमकोमल-दन्तरुचो बभुः। उपवनान्तलता पथनाहृतः किरलयैः सलयैरिव पाणिभिः।।' रघुवंश २।३५। लताकुललताः—लताओं के बंध में उगम्य होनेवाली

स्त्रियो, अथवा, लता-रूपी कुनवधुओं । सावहिता —व्यानपूर्वक । अद्य -
विषय —आज की सभा का विचारणीय विषय मनुष्यों की चर्चा करना
है । निरृष्टतमा —सबसे अधिक नीच । समन्तात्, एष अपहारितम्—
विश्व के स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा ने चारों ओर इस नवीन एव आश्चर्यकारी
ससार की रचना करके जो बुद्धि-उत्कर्ष और रचना-नैपुण्य दिखाया, वह
मनुष्यों की मृष्टि करके एकदम नष्ट कर दिया ।

[पृ० ७२] प्रावतनकर्मप्रभावात् —पूवजन्म के कर्मों के प्रभाव से अथवा
माग्यवश । 'पूवज-मकृत कर्म तद्द्वैवमिति कथ्यते ।' जडत्वम् आप-नानाम्—
जडता को प्राप्त हुए । अस्माकं वार्ता तावदस्तु दूरे—हम लोगों की बात
छोड़िए । जोवसृष्टिप्रयाहेषु —ससार के सभी प्राणियों की परम्परा में ।
परप्रतारका —दूसरों का धोखा देनेवाले । मायाविन —द्वयी । हिंसस्व-
भावतया प्रसिद्धान्—हिंसक वृत्ति के लिए प्रसिद्ध । नित्य कत्तापान्—
दैनिक और विशिष्ट कार्यादि । याथातथ्येन—वस्तुतः । किमेते गरिष्ठा -
क्या ये हिंसक पशु-हिंसा आदि कर्मों में मनुष्यों से भी बड़े-बड़े हैं ? गरिष्ठा-
(गुरु + इष्ठन्) = गुरुतमा । प्रकृतिनियमो प्रयोजनकम्—प्राकृतिक
नियमों से प्रज्वलित होनेवाली पेट की अग्नि (भूख) की शान्ति के लिए
ही है । क्रूर अवसानानि—और उनके क्रूर कर्म पेट भर जाने पर समाप्त
हो जाते हैं । सृष्ट् पूर्वो—एक बार पेट भर जाने पर । करतलगतान्—
हाथ में आये हुए । न या तयाविधि परिभ्रमन्ति—और न वे उस तरह
के दुर्बल जीवों को मारने के लिए जगत्-जगल घूमते हैं । समुद्धतम्
(सम् + उत् + क्त) —ऊधम के साथ (समुद्धत यथा स्यात् तथा) ।
प्रत्युत—बल्कि । मुनि विश्राम्यन्ति—ऋषि-मुनियों के आचरण की भाँति
शान्त होकर एवान् (विविध) और निर्जन स्थान में जाकर विश्राम
करते हैं ।

निरवधि —भीमा-रहित । आशीडनम्—खेल, विनोद । चित्तान्त-
चित्तयिनोदाय—यके हुए चित्त का अनुरजन करने के लिए । भृग्याम्
अपदिश्य—शिकार के बहाने में । हिंसावृत्ते चरितार्थता सम्पादयन्ति—

अपनी हिंस्र मनोवृत्ति को चरितार्थ करते हैं, कार्य-रूप में परिणत करते हैं । मनुष्यालयं प्रविश्य—मनुष्यों की वस्ती में जाकर । समनुतिष्ठन्ति—करते हैं । ऐहिकमुखलिप्सया—सासारिक मुख पाने की लालसा से । समुत्साहेन—बड़े उत्साह से । पारत्रिकप्राप्त्याशया—परलोक का शाब्दत (नित्य) एवं विशुद्ध (दुःखादि से अमिश्रित) सुख पाने की वांछा से । [पृ० ७३] आसन्न कलेवरान्—जिनके शरीर बिलकुल निकट आई हुई मृत्यु के डर से काँप रहे हैं । उपहत्य—मारकर । स्वहृदयस्य०—अपने हृदय की अत्यन्त कठोर झूरता का । विदीर्यते—फट जाता है ।

भक्षयनियम—भोजन-सम्बन्धी नियम । अनायाससाध्या—सहज ही पूरी की जा सकनेवाली । स्वोदरं समधिगत्य—पेट भरने लायक खाने की वस्तु पाकर ही । परितुष्टिम्—सन्तोष । अन्यत्र विषयेषु अपि—और बातों में भी । तृप्तियोगः—सन्तोष-लाभ । भागधेयेषु—भाग्य में । अभिविधित्सवः (अभि + वि + धा + सन् + उ) — (प्राप्त) करने की इच्छा करने वाले । अव्याहत हृदयाः—निर्वाह लोभ से जिनका हृदय विक्षुब्ध (परेशान) रहता है । मनुजन्मानः—मनुष्य । सर्वात्मना प्रवर्तन्ते—हर प्रकार से लग जाते हैं । न धर्मम् अनुधत्वन्ति—धर्म का पालन नहीं करते । न सत्यम् अनुबध्नन्ति—सत्य का आग्रह नहीं करते । तूष्णवत्०—स्नेह की तिनके-जैसी उपेक्षा करते हैं । लोष्टवत्०—पवित्रता का कंकड़-पत्थर की तरह परित्याग कर देने हैं । अहितमिव०—सरलता से वैसे ही बचते हैं जैसे शत्रु में । अमङ्गलमिव०—विश्वास की वैसे ही हत्या करते हैं जैसे अमंगल वस्तुओं की । पापाचारेभ्यः—पापाचरण से । अनृतव्यवहारात्—असत्य व्यवहार से । नहि—पीडनात्—क्षणभर के लिए भी दूरियों को कष्ट देने में विरत नहीं होते । न वा अकृत्यात्—बुरे-मे-पुरा काम करने से भी मुँह नहीं मोड़ते । सिसाधयिपन्ति—साध् + पिन् + सन्, लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन, साधने की इच्छा करते हैं । यथा यथैव०—ज्यों-ज्यों इनकी स्वार्थ-मिद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों इनकी विषयों की प्यास अधिकाधिक बढ़ती जाती है ।

एते—मनुष्या । निवृष्टा—जघम, नीच । निस्तारा—व्यथ, वेका ।
 प्रयत्न पर्यन्तम्—प्रयत्न आधी जाने के ठीक पहले तक, प्रयत्नवात्याया
 उद्गमस्य अव्यवहित पूर्वक्षण यावत् । विचलन्ति—हिलते-डुलते ।
 निर्भोकानि इव—जैसे निडर होकर । अविशङ्कितचित्तानि इव—जैसे
 निशङ्क-चित्त होकर । सर्वथा अयत्तिष्ठन्ते—दट होकर जैसे रहते ।
 [पृ० ७४] स्वशक्तित —जपनी पूरी तागत नपाकर । सम्मुक्त पुण्या
 इव—सधाम में मामने घटे धीरा की तरह । सुदूर आकल्प्य—सुदूर
 भविष्य में आ पढनेवाली जिमी विपत्ति की कल्पना कर के । परिवर्त्तमान-
 कलेधरा—कापते हुए शरीर से । निरन्तर हृदया—जिनका हृदय सदा
 भारी चिन्ताओं में पीटिन रहना है । दुःख बाह्यन्ति—बड़े कष्ट से समय
 मिताने हैं । परिवर्त्तयन्ति प्रतीकारोपायान्—ध्यातुन होकर परिवर्त्तने
 विपत्ति के मुकाबले के लिए उपाय करने हैं । येन अतिश्रान्तम् एव—
 जिससे मनुष्य-जीवन न शान्ति-मय कभी प्राप्त नहीं होना (उच्छा-भूति के
 मार्ग से दूर ही रहना है) । भवितव्य तदा—भविष्यता (भावी) के
 अनिवार्य होने के कारण । दुर्तान्ध्यतया च नियतिनिश्चयानाम्—भाग्य के
 नियमों के अटल होने के कारण । एकपदे एव—अचानक ही । अन्तर्घते
 विद्यावत्ताभिमान—विद्या का गर्व उत्पन्न हो जाता है । त्वर्षी गर्व—
 तीक्ष्ण बुद्धि-वानुषं में उत्पन्न होनेवाला गर्व अष्ट हो जाता है । प्रतीयते
 अहङ्कार—अपने को सर्वज्ञ मानने से होनेवाला अभिमान उत्पन्न हो जाता
 है । समुद्रति—उत्पन्न होना है । कोऽपि हृदयाद्यमाद—निकलव्यविमूढता
 में होनेवाली विन्तना हृदय पर टा जाती है । भृश बुद्धि—विर
 कात से परिपुष्ट हुई नाम्निता विद्वान् नष्ट हो जाती है । सुदूरम्
 प्रतिद्वन्द्विता—ईश्वर में की जानेवाली होठ बहुत दूर चली जाती है ।
 आत्मप्राणाय—आत्मरक्षा के लिए । परित्यजन्ति आत्मभरतान्—हर
 प्रभारकी आत्मनिर्भरता को छोड़ देते हैं । भवन्ति च०—भाव यह है—
 यो तो नियम यह है कि स्त्री-पुत्र-स्वजनो की मत्ता रक्षा करनी चाहिए, पर
 विपत्ति के समय वे इस नीति का अनुसरण करने समते हैं कि 'सदा अर्था

ही रक्षा करनी चाहिए, चाहे स्त्री से चाहे घन से, और केवल अपना वचाव करने के फेर में पड़े रहते हैं। फलितः परं वर्तते—मनुष्यों की ज़ारता दिखाने में क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? श्रय ये प्रकटयति—इस प्रकार जब विश्व-विधाता ब्रह्मा ने तृणादि की नृष्टि रचकर मनुष्यों-जैसे जीवों की रचना की, जो तिनकों से भी गए-जरे और पशुओं ने भी नीचे हैं, तब यह बात ब्रह्मा के बुद्धि के उत्कर्ष को कहाँ तक सिद्ध करती है ?

[पृ० ७५] हेतुप्रमाणपुरस्सरम्—हेतुभिः प्रमाणैश्च पुरस्सृतं (युक्तम्) यथा स्यात् तथा, तर्कं भाँर प्रमाणपूर्वकं। विभावयन्तः—चिन्तयन्तः।

१८—क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते

पण्डिता क्षमाराव (१८६०-१९५४) उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् श्री गकर पाण्डुरंग पण्डित की पुत्री थी। वह कई वर्षों तक यूरोप में भी रही। संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी और फासीसी भाषाओं की भी वह अच्छी जानकार थी। उन्होंने संस्कृत गद्य और पद्य दोनों में आधुनिक विषयों पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। उनकी 'सत्याग्रह-गीता' पेरिस से १९३२ में प्रकाशित हुई थी, जिसमें सहायता गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन के मार्मिक गन्धर्वों को काव्य के सुकुमार तन्तुओं में बाँधा गया है। उनकी 'उत्तर सत्याग्रह-गीता' (बम्बई, १९४८) गांधी-गाथा को १९४४ तक ले आती है। उन्होंने मराठी के तीन सन्तों—तुकाराम, रामदास और ज्ञानेश्वर—तथा अपने पिता की जीवनी को काव्य का परिधान पहनाया है। उनकी अन्य उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ ये हैं—'कथापञ्चकम्' (बम्बई, १९३४), 'विचित्र-परिपद्-यात्रा' (बम्बई, १९३६), 'मीरा-लहरी' (बम्बई, १९४४), तथा 'शामज्योति' (कलकत्ता, १९५४)। 'कथामुक्तावली' (बम्बई, १९५५)।

जिनमें से प्रस्तुत कथा ली गई है, उनकी पन्द्रह गद्य-कहानियों का संग्रह है। उन्होंने कई नाटक भी लिखे, पर वे अभी अप्रकाशित हैं।

आलोचकों ने पण्डिता क्षमाराव की प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन कारों के मतानुसार उनकी भारी रचनाओं में 'सरल और अलङ्कृत भाषा, चुने हुए शब्दों का प्रयोग, छन्द-कौशल, नाना अलङ्कारों का उपयोग, विचित्र वर्णन तथा उच्च स्तर का काव्य-गुण' परिलक्षित होते हैं।

प्रस्तुत कथा एक ऐसी युवती की कहानी है, जो अपने पति की लाज में अकेली निकल पड़ती है। करुणा, रहस्य, संयोग तथा आश्चर्य का पुट कथा को अतीव रोचक बना देता है।

[पृ० ७५] आपात = परिश्रम। अवसितप्राय — लगभग बीत चुका था। मणिमयगिरिमेखलाया — मणिमयनाम्न गिरे मेखलाया, मेखला = याँचल। गाँव का नाम किष्टिवार था। विवक्ते = एकांते। दरीदृश्यते — दृस् + यङ्, लट्, पौन पुन्येन दृश्यते, स्पष्ट दिखाई देती है। कारवाही-गुल्मेपु अन्तर्हित — कारवाही की झाड़ियों में छिपा हुआ। नेदीपस — निकट + ईयस्, षष्ठी एववचन, पाम वे। पर-शतपादायतस्य — जिसकी तलहट्टियाँ (पाद) सौ से भी अधिक थीं। प्रतिवध्नत — प्रति + बध् + शतृ, द्वितीया एववचन, रोक रहे। शकलीकुर्वन् — टुकड़े करते हुए। केनतिकरोद्गारभासुर — केन-समूह के निकलने से चमकदार। [पृ० ७६] निशंरक्षशंरनिनादेन — भरने की झर-झर आवाज से। दिगन्तम् आपूरयन् इव — अन्तराल (दिगन्त) को भरता हुआ। नाना विडम्बिभिः — पर्वत की दोनो बाजुएँ नाना प्रकार की ऐसी पुष्पित जगली झाड़ियों से छाई हुई थीं, जो नन्दन-वन की मनोहरता की विडम्बना (उपहास, तुलना) कर रही थीं। समाहिता इव — समाधिस्थ-सी, हक्की-बक्की, आत्म-विस्मृत-सी।

तारस्वरेण — ऊँचे स्वर से। तापसस्य श्रीनगरवासिन — श्रीनगर-निवासी किसी तपस्वी ज्योतिषी ने हिम्मा के पति के विषय में यह भविष्यवाणी की थी कि उसका पता अमरनाथ-गुफा में लगेगा। निमित्तज्ञ — ज्योतिषी।

धर्मकञ्चुकी—धर्म की केंचुल पहने हुए; ढोंगा । निश्चिनोमि—मुझे निश्चय होता है कि यह ज्योतिषी ढोंगी है ।

अम्बुजः—यह हिमा के पति का नाम था । संकेतस्यानम् उद्दिश्य—मिलने के स्थान के विषय में । वृत्तोपलब्ध्यै—समाचार पाने के लिए । तत्सविधे—उसके पास । तस्य=अम्बुजस्य । परिभ्रमणसवतः—पर्यटन के शौक में पड़कर । अमरनाथयानावद्वावरः—अमरनाथ की यात्रा में श्रद्धा रखकर । अनवरतः वर्षन्ती—आँखों से निरन्तर आँसू बहाती हुई । शोकानलेन प्लुष्टा (दग्धा) इव—शोकाग्नि से मानो जलकर । स्वशिशुं प्राहिताम्बुजनामकम्—अपने पुत्र को, जिसका नामकरण अम्बुज किया गया था । तदानीम् एकाव्देशीयम्—जो उस समय एक वर्ष के लगभग था ।

चिरात् तिरोहितस्य—दीर्घकाल से आँखों से ओझल हुए । पितुः अन्वेषणकथिया—एक-मात्र पिता का खोजने की नीयत से । अम्बुज के पिता का बहुत दिनों से पता नहीं चलता था । उन्हीं की खोज में अम्बुज घर से निकल पड़ा था । अति शिलायिते—अत्यधिक सर्दों से हम दोनों (ठिठुरकर) जब तक पथरा नहीं जाते । शिलायिते—शिलेव जड़ीमूते । [पृ० ७७] असकृद्—अनेक बार । अलं निषेधवचोभिः—बस, मुझे रोको मत ।

अधित्यका=पहाड़ी चोटी; उपत्यका=तलहटी । प्रगल्भाः—साहसी । पर्यन्ते—दूर सामने । पिसुनाम्नः शैलस्य उत्सङ्गे—पिसु नामक पहाड़ की गोद में । स्मयमान अवलोकयन्ती—जिलमिलाते हुए अथवा पुष्पित शेषनाग सरोवर को देखती हुई । बृहद् अक्षोदृद्रुमस्य अधः ध्यायन्तम्—अखरोट के बड़े दृक्ष के नीचे ध्यान में लीन । प्रदोषस्य एधमानान्धकारे—सन्ध्या के बढ़ते अन्धकार में । एधमान—एध्+शानच्; वर्धमान । निष्प्रभ घनीभूते (अन्धकारे)—ज्योतिहीन पर्वत की नील एवं लोहित छायाओं से घनतर हुए (अन्धकार में) । प्रवयाः—बढ़ी व्यस्त बाले, बूढ़े । वलितपीतवर्णास्यः—जिनके मुँह पर झुरियाँ और पीलापन है । आनामि०—नामिपर्यन्तं विलम्बमानः सितः सान्द्रः

कूचं यस्य स, जिनकी सफेद घनी दाढ़ी नाभि-स्थल तक लम्बमान थी ।
 भस्मधूलि०—जिनकी जटाएँ रास में पुती (अन नाली लिये) थीं ।
 अशिष्यल०—जिनका शरीर झुका हुआ (हुञ्चित) अवश्य था, किन्तु
 शिथिल नहीं । दाक्षिण्याङ्कितललाट—जिनके मस्तक पर स्पष्ट उदारता
 का भाव व्यक्त था । नद्रतथाइव स्नातशरीर—भ्रतता में मानो जिनकी
 देह डूबी हुई थी । भ्रूमध्य०—जिनहाने भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर कर
 रखी थी । पुरातनकालप्रतीक इव समुदलसत्—प्राचीन समय के प्रतीक
 की तरह विराजमान थे ।

आयतद्योतमान नयनयुगलम् उन्मील्य—बड़ी-बड़ी चमकदार आँवों
 का खोलते हुए । अन्दयुङ्क्न—अनु + युञ्, लङ्, पूछा । प्रतिपन्नम्—
 स्वीकृतम् । अनुयुवतया—पूछी गई, पूछे जाने पर । [पृ० ७८] स्वस्ति-
 ताक्षरं—दूटी-दूटी डबान म । चिरात् घातार्त्—चिरकाल से खोये
 हुए पति की बहानी । पपटनामिपङ्गम्—(अपने) यात्रा-हेतु को । निम्न-
 पटलात्—नीची छनवाती (कूटी को) । दोलायमन्मानसा—जिसका
 मन डँबाडोल था । दोलायमान—दोला इव आचरन्, दोला (नामधातु)
 + शानच् । समादवम्—गृह्णतापूर्वक । अभाषिष्ट—भाष, मुञ् ।
 आप्रात—प्रातःकालपर्यन्तम् । आस्तरणम् आस्तोष्यं—चादर (दरी,
 चटाई) बिछाना । आनिशीपम्—आधी रात तक ।

गथाभ्रान्त०—शरीरों से अन्दर आ रही चन्द्रमा की किरणों जिसका
 मूँट मानो चूम रही थीं । कौमुदी आलोकयती—दूध के समान चिट्ठी
 चाँदनी के प्रवाह में स्वच्छ बने जगत् को देखती हुई । मरुत्तनीले—
 नीराम के रग के । रजग्या आसीत्—रात्रि की ध्यानावस्थित मुद्रा उसमें
 प्रतिविम्बित हो रही थी । आलोकस्य पराधीनाया—उस अत्यन्त
 अद्भुत एवं रमणीय प्रकाश के सर्वथा बश होकर । तस्या—विचार-
 सरण्या समापतन् स्मरणम्—उसकी विचार-धारा में स्मृति जाग उठी ।
 सम् + आ + ण्, लङ् । स्वभर्तृ०—घर की उस समय की याद, जब
 उसके पति ने घर नहीं छोड़ा था । आत्मोप०—अपने अल्पनाशीन बँबा-

हिक जीवन का । अब्दपञ्चकतः पूर्वम्—पाँच वर्ष पूर्व । संवृत्त—वदित ।
मन्दिरात्—गेहाद् । दूरस्या०—उसे लगा जैसे उसने दूर चौड़ी से अपने
पति के स्वर की गूँज सुनी । व्यभावयत्—उसे लगा । शीतशीतोपःकाले—
अत्यन्त शीतल उप काल में । पूर्वेषुः इव—पहले (पिछले) दिन की भाँति ।
अन्तरायः—विक्षेप, विघ्न । वलिता “आविरभूत्—उनके शूरियोंवाले
चेहरे पर मन्द मुसकान झलक उठी । कृतज्ञताभरपुरस्सरम् आपृच्छ-
मानाम्—जो कृतज्ञतापूर्वक जाने की अनुमति माँग रही थी ।

[पृ० ७६] नानाविध०—तरह-तरह की अद्भुत भावनाओं तथा
भगिमाओं के प्रवाह से जिसका हृदय पूर्ण था । अन्तिकम्—समीपम् ।
सम्प्राप—सम् + प्र + आप्, लिट् । विशालस्यल्याम्—लम्बे-चौड़े मैदान
में । यात्रिकजनार्णवः—यात्रियों का समुद्र । शतशः परिणतवयस्काः—
सैकड़ों बूढ़े । कुघटिताङ्गयष्टयः—टूटे-फूटे अंगोंवाले । परःसहस्राणाम्—
हजारों-लाखों की सख्या में । चिकीर्षुः—कर्तुम् इच्छुः । दातः—समूहः ।
जीर्णचीवरश्रेष्ठिताङ्गः—फटे-पुराने चीखड़ों में शरीर को लपेटे हुए ।

वधिरोः श्रान्तम्—कानों को बहुरा कर देनेवाले शोर से भयभीत
(कपोतवृन्द) । युगपत्—एक साथ । अनेकरन्ध्रेभ्यः—कई दरों से ।
कपोतवृन्दम्—कबूतरों का झुंड । समुद्भिद्ये—सम् + उद् + डीङ्, लिट् ।
ज्वलद्घूपसोरभजातम्—जलती हुई घूप की तरह-तरह की खुराबू ।
यहुतिथं कालम्—लम्बी अवधि तक । देवा हि०—देवता भी सहन नहीं
कर सकते कि जीवन योंही बरबाद जाए । जोषम्—तृष्णीम्, चुपचाप ।

[पृ० ८०] शव हिमशिलाम्—शव रखने के बक्से के आकार की
एक बड़ी शिला के निकट । समुपेतवन्ती—पहुँचे । तुषार निदिश्य—
वर्ष के ढेर को अपनी उँगली से दिखाकर । अवसन्नगात्री—जिसके अंग-
प्रत्यंग सुन्न हो गए थे । हिम निवेशितम्—वर्ष की दो सिल्लियों में जकड़ा
हुआ । स्मेराननः—मुसकराते हुए । झटिति प्रमूज्य—तुरन्त उसने अपने
मस्तक पर शोभायमान सौभाग्य-चिह्न केसर की कमल-पुट (उदर) के

समान (सोदर=भाई) हाथ से पोंछ डाला । हैमाच्छादनपटोपरि—
मुँह पर पड़ी बर्फीली चादर पर । न्यघात्—नि+घा, लङ् । परिदेव-
माना—रोती हुई । शोक निक्षिप्ता इव—शोक-समुद्र की लहरों पर
जैसे आ पड़ी हो । निर्जोबोपाङ्गम् इव—जिनकी उँगलियाँ, कलाई
(उपाङ्ग) सुन्न पड़ गई हैं । आलम्बेताम्—आ+लम्ब्, लङ् ।
निःसत्त्वो—सत्त्वशून्यो ।

प्राणिनां जीवनम्०—ससारी प्राणियों का जीवन जल के बुलबुलो की
तरह क्षणिक होता है । निर्वाण च अन्विच्छ—शान्ति की खोज कर ।

शीतशीतलहैमसमाधिबुहरात्—अत्यन्त शीतल बर्फीली समाधि-भुहा
से । अद्राप्टाम्—दृश, लृङ् प्रथमपुरुष द्विवचन । श्यामशमधुलम्—काली
मूँछोवाले । चर्मञ्चुञ्चारिणम्—चमड़े का कोट पहने । घृतलोम-
शिरस्कम्—रोएवाली टोपी पहने । दोर्घ भ्रान्तम्—लम्बे और कठिन
पर्यटन से थके हुए । पान्यम्—बटोही को । मिष—परस्पर । [पृष्ठ
८१] अन्वग—यात्री । स्यगिता इव—मानो गतिशून्य । स्ववक्षुषो०—
अपनी आँखों पर जैसे विश्वास न करने हुए । पोट्टलिका—पोटली ।
अवाप्तपरमप्रमोदसन्दोह—युशी से फूलान समाता हुआ । सोऽग्न्यम्—
उद्धलकर । ध्यतिक्करम्—घटित परिस्थिति । भ्रान्तभ्राता—अत्यन्त भ्रान्ता ।
क्रियासमभिवहारेण—एक ही वाक्य में, सक्षेप में । उपेतशवपीठिका—शव
के आधान के निकट आकर । तातपादा—पिताजी । मोषीभूता—व्यर्थी-
हुता । विलतास—सुशोभित हुई । प्रकामम्—पर्याप्तम्, प्रगाढ़म् ।
[पृ०८२] निरन्तर इव—जैसे अटूट, निर्विघ्न निद्रा का सुख अनुभव
करते हुए । कालहस्तेन अस्पृष्टम्—जिसे समय के हाथों ने छूआ तक
सहीं, जो मरकर भी सड़ा-गला नहीं । प्रमोद परिस्तुतो—आनन्द के
बाराबार में डूबते-उतरते ।

गद्यकाराः प्रशस्यन्त आचार्यैरधिकारिभिः

वेद.

सरस्वती श्रुतिमहती महोपताम् । कालिदासः

ब्राह्मणम्

ब्रह्म सत्यं विजानीयात् ब्राह्मणं ब्रह्मणः सुतम् ।

ययाद्दृष्टानुवादित्वात् ब्राह्मणं ब्राह्मणं मतम् ॥

कात्यायनी

उपनिषद्

देहलीवीपकस्थित्या भासयन्तो भुवं दिवम् ।

मृत्युजीवनयोर्नित्यं स्वानुभावेन सान्त्वनम् ॥

सर्वोपनिषदोऽमृतम् । शूर्पणखारिः (शोपेनहावर)

कौटिल्यः

धुटिलमतिः स एष येन

क्रोधायनी प्रसभमदाहि मन्दवंशः । विशाखदत्तः

पतञ्जलिः

योगेन सूत्रस्य पदेन घाचां

मतं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

पोऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां

पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥ 'यः कश्चित्'

चरक.

देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं

स्यादस्या नलदं बिना न दत्तने तापस्य कोऽपि क्षमः ।

श्रीहर्षः

आयेंशूर

आर्या, दिव्यावदानानि सोपानानीव सर्वथा ।

आरह्य जातकानीत्य मुद्धत्वपदप्रान्तये ॥

सत्य शूरा भवन्तु वै । प्रियदर्शी

दण्डी

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम् ।

विकासो वेधम पत्न्या विलासमणिदपणम् ॥ गगादेंवी

सुवन्धु

सुवधुर्वाणमदृष्टश्च कविराज इति त्रय ।

षत्रोक्षितमागंनिपुणाश्चतुर्यो विद्यते न वा ॥ कविराज

वाणमदृ

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगमनो हरति ।

सार्क तरुणो ? नहि नहि वाणी वाणस्य मधुरशोलस्य ।।

धर्मदास

शङ्कराचार्य

वादिघातगजेन्द्रदुर्मदघटादुर्गवसज्जुर्षण

श्रीमच्छङ्करदेशिके द्रमृगराड् आपाति सर्वार्थवित् ।

दूर गच्छत वादिदुःशठगजा सन्यासदष्ट्रायुधो

वेदान्तोरुच्यनाश्रयस्तदपर द्वैत वन भक्षति ॥

अम्बिकादत्तव्यास

मुहुरवतीर्णस्य भुवि विनाशाय नु द्रुष्टताम् ।

शिवस्य स्तुतये वाणीमम्बा यस्मै ददौ स्वयम् ॥

व्यासाय नम्यते नम । अरुष्यानी

दृषीवेशशास्त्री भट्टाचार्य

मुद्रयति घदनविवर मृतभाषावादिनां मुहेराणाम् ।

स्मरयति च भट्टघाणं भट्टाचार्यस्य सा वाणी ॥

गिरिधरशर्मा चतुर्वेद

कमाराव

सत्यं स्पृष्ट्वा हृदयं स्नेहेनानाबिलेन मातेव ।
अधन्याऽहिंसाऽदितिर्वत्सं भारतं विभ्रती क्षमा ॥

युगं जज्ञे सरस्वती । प्रभास्वती

कण्ठस्थेयाः सदुक्तयः*

अचेतनानामपि मंत्री समुचितपक्षे निक्षिप्ता ।

अतिशीतल पतिशोकानलादक्षयस्नेहे यनादस्मादनल* ।

अनिष्टोद्भावनरसोत्तर हि भवति खलहृदयम् । को नामाऽस्य तत्त्व-
निरूपणे समर्थ ?

अबोजादेव जायते, अकाण्ठादेव प्ररोहति खलव्यसननाडपुरा, दुश्चै-
दाश्च भवन्ति ।

अमिनम्बति हि स्नेहकातरापि कुलीनता देशकालानुरूपम् ।

अलोकाभिमानो मादकारोणि धनानि ।

अविमृश्यवारिणां हि नियतमनेका पतन्त्यनुशयपरम्परा* ।

अश्वसधर्माणो हि मनुष्या निपुक्ता कर्मसु विदुवन्ते ।

असता हृदि प्रविष्टो दोषलव करात्पायते, सता तु हृदि न प्रविशत्येष ।

अहो प्रभावो महात्मनाम् !

इन्द्रियहरिणहारिणी च सततम् अतिदुरन्तेयम् उपभोगमृगतृणिका ।

ऊर्जा मधुमती वाक् ।

गर्भेश्वरत्वम् अभिनवपीवनत्वम् अप्रतिमरूपत्वम् अमानुषशक्तित्व
चेति महतीय खल्वनयंपरम्परा ।

गृहिण प्रियहिताय दारगुणा ।

गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठोयमानश्च धर्मं प्रचय गच्छति ।

तृप्तिलाभस्तु न विलिखितो विधात्रा मनुष्यभागधेयेषु ।

देवा हि तरुणजीवनध्वसनमवलोक्यित नोत्सहन्ते सजु ।

दुःखदायानां च भूतिरमङ्गला चाप्रशस्ता च निरपयोगा च भवति ।

* ये सूक्तियां इमी प्रकार के पाठो से अकारादि-क्रम से सञ्चित हैं ।

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च ।

न गुह्यं विवृणुयात् ।

न नक्तं दधि भुञ्जीत ।

न नियमं भिन्द्यात् ।

न पत्न्यान्मवमूत्रयेत् ।

न पापेऽपि पापी स्यात् ।

न बुद्धौन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् ।

न सर्वविथम्भी न सर्वाभिज्ञाङ्गी ।

न नानृतं ब्रूयात् ।

नान्यस्त्रियमभिलषेत्, नान्यश्रियम् ।

नान्यस्वमादद्यात् ।

नास्त्यदाराणामननुगुणदारणां वा सुखं नाम ।

नोत्तमैर्विसृष्येत् ।

पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम्, किं पुनर्वंशानानि ।

पुण्यं हि सात्त्विकं नूनमशयमपि साधयेत् ।

प्रतीतपदार्यको लोके ध्वनिः शब्द इत्पुच्यते ।

प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जो स्यात् ।

प्राणिनां जीवनं जलबुद्बुदस्य भङ्गुरत्वमनुफरोति । क्लं चिन्तया
मृतस्य ।

प्रायो महाभूतानां दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि ।

ब्राह्मणत्वस्व हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः, तदधीनत्वाद्दर्णा-
श्रमभेदानाम् ।

भगवानमरनाथस्तवाभीष्टं सफलीकुर्यात् ।

मधुमतीं वाचमुशेयम् ।

मनुष्याणां हि सावृत्तिस्तु निरवधिः ।

महासत्त्वता हि प्रथममवलम्बन लोकस्य पश्चाद्वाजवीजिना ।
 मानषा नाम सर्वान्मु सृष्टिधारासु निकृष्टतमा सृष्टि ।
 य सर्वथा चिर जीवति वर्षशत जीवति ।
 यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।
 योवनारम्भे प्राय शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धि ।
 विद्वांसमपि घोरमपि अभिजातमपि पुरुषम् इय दुर्विनीता खलीकरोति
 सक्रमो ।

विषवाना यशसा स्यात्तुमिच्छामि लोके न यपुषा ।
 शश्वत्स्यास्यति ते पुष्य । शिवास्ते सन्तु पन्यान ।
 श्वापदाना हिंसाकर्म किल प्रकृतिनियमोद्दोषतज्जठरानलनिर्वाणमात्र-
 प्रयोजनकम् ।

सत्यपरिभाविता याचमग्निरपि न प्रसहते सङ्घयितुम् ।
 समुद्रोऽस्मि विघर्मण ।
 सर्वप्राणिषु चन्द्रभूत स्यात् ।
 सेपमाकृतिनं व्यभिचरति शीलम् ।
 स्वस्ति अथ उपसो दोषसद्च ।
 स्वाध्यायप्रवचनाम्या न प्रमदितव्यम् ।